नवंबर 2019

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

वार्षिक : ₹ 2,100/-

© 2019 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

1. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

नवंबर, 2019 अंक - 11

प्रधान संपादक

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

संपादक

कमला कान्त

विधि साहित्य प्रकाशन

[2019] 4 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन

विधायी विभाग

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

Online selling of law Patrikas/Books is available on

Website → https://bharatkosh.gov.in/product/product

विक्रय कार्यालय : सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

प्राय: यह प्रश्न उठता है कि यदि कोई क्रिश्चियन व्यक्ति किसी अन्य धर्म में परिवर्तित हो जाता है और उसकी निर्वसियत मृत्यु हो जाती है तो उसकी संपत्ति का उत्तराधिकार, किस विधि के अनुसरण में निर्धारित किया जाएगा । इसी प्रकार के प्रश्न पर विचार करते हुए, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **फरेज जॉन अब्राहम (मृत) मार्फत विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **अरुल ज्योति शिव सुब्रमणियम् के. और अन्य** [2019] 4 उम. नि. प. 260 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि यदि किसी क्रिश्चियन व्यक्ति की निर्वसियत मृत्यु हो जाती है तो उसकी संपत्ति को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की शनाख्त और हक, अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण तत्समय प्रवृत्त क्रिश्चियन विधि के अनुसरण में ही किया जाएगा और उसकी संपत्ति में, प्रत्येक उत्तराधिकारियों के हिस्से का निर्धारण भी उसी विधि के अनुसरण में किया जाएगा जो तत्समय उस मृतक व्यक्ति को लागू होती थी ।

जब यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी व्यक्ति को मात्र प्रयोगशाला की इस रिपोर्ट पर कि अमुक पदार्थ, स्वापक पदार्थ है, दोषसिद्धि की जा सकती है, इस बात के निश्चायक सबूत के अभाव में कि उक्त पदार्थ उस व्यक्ति से अभिगृहीत किया गया था । इसी प्रकार के प्रश्न पर विचार करते हुए, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **विजय पांडे** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** [2019] 4 उम. नि. प. 288 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि जहां अभियोजन पक्ष यह साबित करने में असफल रहता है कि न्यायालय में प्रस्तुत किया गया स्वापक पदार्थ का नमूना अभियुक्त से अभिगृहीत पदार्थ का है और केवल प्रयोगशाला की यह रिपोर्ट प्रस्तुत की गई हो कि परीक्षण किया गया नमूना स्वापक पदार्थ का था, उसे अभियुक्त की दोषसिद्धि करने के लिए निश्चायक साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है और उसे दोषमुक्त करना उचित होगा ।

प्राय: यह प्रश्न उठता है कि क्या द्वितीय अपील में, तथ्य या विधि के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है । इसी प्रकार के प्रश्न पर विचार करते हुए, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **एस. सुब्रमण्यन्** बनाम

एस. रामास्वामी [2019] 4 उम. नि. प. 174 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि द्वितीय अपील केवल विधि के सारवान् प्रश्न पर ही न कि तथ्य या विधि संबंधी किसी प्रश्न पर अनुज्ञेय होती है, इसलिए, विधि संबंधी प्रत्येक प्रश्न विधि का सारवान् प्रश्न नहीं हो सकता है तथा उच्च न्यायालय का निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त करना तब तक न्यायोचित नहीं हो सकता है जब तक कि वे निष्कर्ष प्रत्यक्षतः अनुचित और/या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल नहीं होते हैं ।

प्रिवी कौंसिल द्वारा दिया गया तारीख 10.5.1943 के निर्णय का हिन्दी पाठ और शीर्ष टिप्पण पाठकों के ज्ञान के लिए प्रकाशित किया जा रहा है । यह अंक विद्यार्थियों, विधि-वेत्ताओं, न्यायाधीशों और आम-जनता के लिए बहुत उपयोगी है । इस अंक में केन्द्रीय अधिनियम अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । इस संपूर्ण अंक का परिशीलन करने के पश्चात् आपकी बहुमूल्य प्रतिक्रियाएं ईप्सित हैं ।

कमला कान्त
संपादक

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

नवंबर, 2019

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
आर. एस. अंजाया गुप्ता **बनाम** तिप्पैया सेट्टी	238
एस. सुब्रमण्यन् **बनाम** एस. रामास्वामी	174
पंजाब शहरी योजना एवं विकास प्राधिकरण और एक अन्य **बनाम** करमजीत सिंह	157
फरेज जॉन अब्राहम (मृत) मार्फत विधिक प्रतिनिधिगण **बनाम** अरुल ज्योति शिव सुब्रमणियम् के. और अन्य	260
भीवचंद्र शंकर मोरे **बनाम** बालू गंगाराम मोरे और अन्य	198
विजय पांडे **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य	288
सुरिन्द्र सिंह देशवाल **उर्फ** कर्नल एस. एस. देशवाल और अन्य **बनाम** विरेन्द्र गांधी	216
सूर्याकांत बाबूराव **उर्फ** रामराव फाद **बनाम** महाराष्ट्र राज्य और अन्य	295

संसद् के अधिनियम

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 का हिन्दी में प्राधिकृत पाठ	1 – 15
प्रिवी कौंसिल के निर्णय	1 – 44

पृष्ठ संख्या

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (1947 का 14)

– अनुसूची 2, मद 3 – सेवा-समाप्ति – दैनिक मजदूर द्वारा तथ्यों के दुर्व्यपदेशन द्वारा और प्राधिकरण से कपट करके अपनी सेवा को नियमित कराना – अनुशासनिक कार्यवाही करने की आवश्यकता – चूंकि जब दैनिक मजदूर की नियमित आधार पर की गई नियुक्ति ही अवैध पाई जाती है तब उसे न तो कर्मचारी कहा जा सकता है और न ही वह कोई सिविल पद धारण करता है इसलिए उसकी सेवा-समाप्ति के आदेश को अनुशासनिक कार्यवाही न कराए जाने के आधार पर अपास्त करना त्रुटिपूर्ण होगा ।

पंजाब शहरी योजना एवं विकास प्राधिकरण और एक अन्य बनाम **करमजीत सिंह** 157

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 307 – हत्या करने का प्रयत्न – अभियुक्त द्वारा क्षतिग्रस्त की छाती में गोली मारा जाना – डाक्टर की राय में क्षति मृत्यु कारित करने योग्य होना – विचारण न्यायालय द्वारा सात वर्ष के कठोर कारावास और जुर्माने से दंडादिष्ट किया जाना – अपील न्यायालय द्वारा दंडादेश को कम करके पांच वर्ष किया जाना और जुर्माने में वृद्धि किया जाना – जहां अभियुक्त और क्षतिग्रस्त के बीच हुई कुछ कहा-सुनी के पश्चात् अभियुक्त ने क्षतिग्रस्त को सबक सिखाने के आशय से उसकी छाती में गोली मारकर क्षतिग्रस्त कर दिया हो और डाक्टर की यह राय हो कि क्षतिग्रस्त को पहुंची क्षति मृत्यु कारित

पृष्ठ संख्या

करने योग्य थी, वहां अभियुक्त के प्रति अनुचित सहानुभूति दिखाते हुए उसके दंडादेश को कम करना उचित नहीं होगा क्योंकि न्यायालय मामले के सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों विशिष्ट रूप से, घटना में कारित क्षतियों और प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति को ध्यान में रखकर अपराध की गंभीरता के अनुरूप दंडादेश अधिरोपित करने के लिए आबद्ध है ।

सूर्याकांत बाबूराव उर्फ **रामराव फाद** बनाम **महाराष्ट्र राज्य और अन्य** 295

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) (2018 के अधिनियम सं. 20 द्वारा यथा संशोधित)

– धारा 148 (यथा संशोधित) और धारा 138 – चैक का अनादर होने पर दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील – अपील न्यायालय द्वारा दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील लंबित रहने के दौरान प्रतिकर की 25 प्रतिशत रकम का संदाय करने का आदेश किया जाना – चैक अनादर के लिए परिवाद संशोधन से पूर्व फाइल किया जाना – संशोधन भूतलक्षी प्रभाव से लागू करने का अभिवाक् किया जाना – निर्वचन – यथा संशोधित धारा 148 के प्रयोजन और उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश के विरुद्ध अपीलों में यह धारा उस दशा में भी लागू होगी जहां दांडिक परिवाद संशोधन से पूर्व भी फाइल किए हों ।

सुरिन्द्र सिंह देशवाल उर्फ **कर्नल एस. एस. देशवाल और अन्य** बनाम **विरेन्द्र गांधी** 216

पृष्ठ संख्या

– धारा 148 (यथा संशोधित) [सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 357(2) और 389] – चैक अनादर के लिए दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील लंबित रहते हुए संदाय का आदेश किया जाना – धारा 148 के प्रारंभिक शब्दों "दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में किसी बात के होते हुए भी ....." को देखते हुए – अपील न्यायालय को अपील लंबित रहने के दौरान दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) के उपबंधों को विचार में लाए बिना अभियुक्त को विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर/जुर्माने की रकम का न्यूनतम बीस प्रतिशत जमा करने का निदेश देने की शक्ति है ।

सुरिन्द्र सिंह देशवाल उर्फ **कर्नल एस. एस. देशवाल और अन्य** बनाम **विरेन्द्र गांधी** 216

परिसीमा अधिनियम, 1963 (1963 का 36)

– धारा 5 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 9, नियम 13, आदेश 43, नियम 1(घ) और धारा 96] – विलंब के लिए माफी – पर्याप्त हेतुक – संपत्ति के विभाजन के लिए वाद को एकपक्षीय डिक्री किया जाना – एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन खारिज होने पर अपील किया जाना – अपील लंबित रहते हुए उसे व्यपहृत किया जाना – धारा 96 के अधीन नियमित अपील और विलंब की माफी के लिए आवेदन फाइल किया जाना – आवेदन खारिज किया जाना – जहां मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल करने वाले पक्षकार पर घोर उपेक्षा, जानबूझकर निष्क्रियता बरतने या सद्भाविकता की कमी का लांछन न लगाया जा सकता हो, वहां न्यायालय

पृष्ठ संख्या

कार्यवाहियों में व्यतीत हुए समय को "पर्याप्त हेतुक" मानते हुए विलंब के लिए माफी देना न्याय के हित में होगा ।

भीवचंद्र शंकर मोरे बनाम **बालू गंगाराम मोरे और अन्य** 198

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 एवं आदेश 41 का नियम 31 और हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956] – अपील – वाद संपत्ति का क्रय – वाद संपत्ति का क्रय, संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब निधि से और साथ ही स्व-अर्जित निधि से किए जाने का दावा करना – आक्षेप – उत्तराधिकार का निर्धारण – यदि अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह साबित कर दिया जाता है कि वाद संपत्ति का क्रय संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब निधि से किया गया है न कि स्व-अर्जित निधि से किया गया है तो उस संपत्ति में उत्तराधिकारियों के स्वत्व, हक और अधिकारों का निर्धारण, संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब को लागू विधि के अनुसार ही किया जाएगा न कि स्व-अर्जित निधि से क्रय संपत्ति को लागू उत्तराधिकार विधि के अनुसार किया जाएगा ।

आर. एस. अंजाया गुप्ता बनाम **तिप्पैया सेट्टी** 238

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 और भारतीय क्रिश्चियन विवाह अधिनियम, 1872] – अपील – क्रिश्चियन व्यक्ति की निर्वसियत मृत्यु – उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी संपत्ति के उत्तराधिकारी व्यक्तियों की शनाख्त और हक, अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण – यदि किसी क्रिश्चियन व्यक्ति की निर्वसियत मृत्यु हो जाती है तो उसकी संपत्ति को प्राप्त करने वाले

पृष्ठ संख्या

व्यक्तियों की शनाख्त और हक, अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण तत्समय प्रवृत्त क्रिश्चियन विधि के अनुसरण में ही किया जाएगा और उसकी संपत्ति में, प्रत्येक उत्तराधिकारियों के हिस्से का निर्धारण भी उसी विधि के अनुसरण में किया जाएगा जो तत्समय उस मृतक व्यक्ति को लागू होती थी ।

फरेज जॉन अब्राहम (मृत) मार्फत विधिक प्रतिनिधिगण बनाम **अरुल ज्योति शिव सुब्रमणियम् के. और अन्य** 260

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5)

– आदेश 9, नियम 13 और धारा 96 – एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन गुणागुण के आधार पर खारिज किया जाना – एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध धारा 96 के अधीन नियमित अपील फाइल किया जाना – वर्जन – संहिता के दोनों उपबंधों के अधीन जांच की परिधि पूर्णतया भिन्न है और प्रतिवादी को केवल इस कारण अपील के कानूनी अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है कि उसका आदेश 9 के नियम 13 के अधीन आवेदन खारिज हो गया था ।

भीवचंद्र शंकर मोरे बनाम **बालू गंगाराम मोरे और अन्य** 198

– धारा 100 – द्वितीय अपील – उच्च न्यायालय की शक्ति – उच्च न्यायालय द्वारा अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करके निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्ष को अपास्त करना – चूंकि द्वितीय अपील केवल विधि के सारवान् प्रश्न पर ही न कि तथ्य या विधि संबंधी किसी प्रश्न पर अनुज्ञेय होती है, इसलिए, विधि संबंधी प्रत्येक प्रश्न विधि का सारवान्

पृष्ठ संख्या

प्रश्न नहीं हो सकता है तथा उच्च न्यायालय का निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त करना तब तक न्यायोचित नहीं हो सकता है जब तक कि वे निष्कर्ष प्रत्यक्षतः अनुचित और/या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल नहीं होते हैं ।

एस. सुब्रमण्यन् बनाम **एस. रामास्वामी** 174

स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985 (1985 का 61)

– धारा 8, 15 और 50 – अभियुक्त के कब्जे से अवैध अफीम अभिगृहीत किया जाना – अभिग्रहण का कोई स्वतंत्र साक्षी न होना – अभिगृहीत नमूने को अभियुक्त से संबद्ध करने में अभियोजन पक्ष की असफलता – जहां अभियोजन पक्ष यह साबित करने में असफल रहता है कि न्यायालय में प्रस्तुत किया गया स्वापक पदार्थ का नमूना अभियुक्त से अभिगृहीत पदार्थ का है और केवल प्रयोगशाला की यह रिपोर्ट प्रस्तुत की गई हो कि परीक्षण किया गया नमूना स्वापक पदार्थ का था, उसे अभियुक्त की दोषसिद्धि करने के लिए निश्चायक साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है और उसे दोषमुक्त करना उचित होगा ।

विजय पांडे बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** 288

हिन्दू विधि

– अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति – विभाजन के लिए वाद – स्वार्जित संपत्ति को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति में मिलाना – यदि संपत्ति के बारे में यह साबित हो जाता है कि वह अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब के एक सदस्य की स्वार्जित

पृष्ठ संख्या

संपत्ति है क्योंकि वह संपत्ति उसके द्वारा अपने सीधे पुरुष पूर्वजों से नहीं बल्कि अपनी माता की बहिन के पति से अभिप्राप्त की गई थी तो मात्र इस कारण कि अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब का वह सदस्य अपने पुत्रों के साथ उस संपत्ति में रह रहा था और उस संपत्ति के संबंध में उन्होंने मिलकर कुछ उधार लिया था, यह नहीं कहा जा सकता है कि वादगत संपत्ति को पैतृक संपत्ति में मिला दिया गया था ।

एस. सुब्रमण्यन् बनाम **एस. रामास्वामी** 174

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN 2457-0494

कीमत : **डाक-व्यय सहित**

एक प्रति : ₹ 195/-

वार्षिक : ₹ 2,100/-

© 2019 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

1. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – **उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका** का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के चयनित क्रमशः सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत क्रमशः ₹ 2,100/-, ₹ 1,300/- और ₹ 1,300/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें । साथ ही यह भी अवगत कराया जाता है कि केन्द्रीय अधिनियमों, विधि शब्दावली, विधि पत्रिकाओं और अन्य विधि प्रकाशनों को आन लाइन **https://bharatkosh.gov.in/product/ product** पर प्राप्त किया जा सकता है ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105

विक्रेता : सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और विक्रयार्थ उपलब्ध पाठ्य पुस्तकों की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम एवं प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पृष्ठ सं.	पुस्तक की मूल मुद्रित कीमत (रुपयों में)	विशेष छूट के पश्चात् पुस्तक की कीमत (रुपयों में)
1.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय – डा. एस. सी. खरे – 1996	273	115	29.00
2.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) – विधि साहित्य प्रकाशन – 2000	209	225	57.00
3.	विधि शास्त्र – डा. शिवदत्त शर्मा – 2004	501	580	290.00
4.	मानव अधिकार – डा. शिवदत्त शर्मा – 2006	340	120	60.00
5.	निर्णय लेखन – न्या. भगवती प्रसाद बेरी – 2019	190	175	–

अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. विधि शब्दावली	सातवां संस्करण, 2015	कीमत रु. 375/-
2. निर्वाचन विधि निर्देशिका (भाग-1 तथा भाग-2)	नवीनतम संस्करण, 2019	कीमत रु. 1,900/-
3. भारत का संविधान (सिंधी भाषा में)	1998	कीमत रु. 45/-
4. बहुभाषी संविधान शब्दावली	1986	कीमत रु. 12/-

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

Website : www.lawmin.nic.in
Email : am.vsp-molj@gov.in

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और विक्रयार्थ उपलब्ध पाठ्य पुस्तकों की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम एवं प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पृष्ठ सं.	पुस्तक की मूल मुद्रित कीमत (रुपयों में)	विशेष छूट के पश्चात् पुस्तक की कीमत (रुपयों में)
1.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय – डा. एस. सी. खरे – 1996	273	115	29.00
2.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) – विधि साहित्य प्रकाशन – 2000	209	225	57.00
3.	विधि शास्त्र – डा. शिवदत्त शर्मा – 2004	501	580	290.00
4.	मानव अधिकार – डा. शिवदत्त शर्मा – 2006	340	120	60.00
5.	निर्णय लेखन – न्या. भगवती प्रसाद बेरी – 2019	190	175	–

अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. विधि शब्दावली	सातवां संस्करण, 2015	कीमत रु. 375/-
2. निर्वाचन विधि निर्देशिका (भाग-1 तथा भाग-2)	नवीनतम संस्करण, 2019	कीमत रु. 1,900/-
3. भारत का संविधान (सिंधी भाषा में)	1998	कीमत रु. 45/-
4. बहुभाषी संविधान शब्दावली	1986	कीमत रु. 12/-

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001
Website : www.lawmin.nic.in
Email : am.vsp-molj@gov.in

आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

नवंबर, 2019 अंक - 11

प्रधान संपादक

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

संपादक

कमला कान्त

विधि साहित्य प्रकाशन

[2019] 4 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन

विधायी विभाग

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

Online selling of law Patrikas/Books is available on

Website → https://bharatkosh.gov.in/product/product

विक्रय कार्यालय : सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

[2019] 4 उम. नि. प. 157

पंजाब शहरी योजना एवं विकास प्राधिकरण और एक अन्य

बनाम

करमजीत सिंह

[2019 की सिविल अपील सं. 3925]

15 अप्रैल, 2019

न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित और न्यायमूर्ति (सुश्री) इन्दु मल्होत्रा

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (1947 का 14) – अनुसूची 2, मद 3 – सेवा-समाप्ति – दैनिक मजदूर द्वारा तथ्यों के दुर्व्यपदेशन द्वारा और प्राधिकरण से कपट करके अपनी सेवा को नियमित कराना – अनुशासनिक कार्यवाही करने की आवश्यकता – चूंकि जब दैनिक मजदूर की नियमित आधार पर की गई नियुक्ति ही अवैध पाई जाती है तब उसे न तो कर्मचारी कहा जा सकता है और न ही वह कोई सिविल पद धारण करता है इसलिए उसकी सेवा-समाप्ति के आदेश को अनुशासनिक कार्यवाही न कराए जाने के आधार पर अपास्त करना त्रुटिपूर्ण होगा ।

प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी को अपीलार्थी-पंजाब शहरी योजना एवं विकास प्राधिकरण द्वारा तारीख 1 दिसम्बर, 1995 को दैनिक मजदूरी पर चौकीदार के रूप में नियुक्त किया गया था । उसका नाम तारीख 31 मार्च, 1997 तक मस्टर रोल पर था । पंजाब सरकार ने तारीख 23 जनवरी, 2001 को निर्धारित-कर्म कर्मचारियों,/दैनिक मजदूरी वाले और अन्य प्रवर्गों के कर्मचारियों के नियमितीकरण से संबंधित नीति में पुनरीक्षण किया । पुनरीक्षित नीति के अनुसार, पंजाब सरकार के अधीन सभी विभागों को ऐसे निर्धारित-कर्म कर्मचारियों, दैनिक मजदूरी वाले कर्मचारियों और अन्य समरूप प्रवर्गों के कर्मचारियों की सूचियां तैयार करने का निदेश दिया था, जिन्होंने तीन वर्ष की सेवा पूरी कर ली थी ।

अपीलार्थी-प्राधिकरण ने तारीख 26 दिसम्बर, 2001 को एक कार्यालय आदेश जारी किया, जिसके द्वारा राज्य सरकार की तारीख 23 जनवरी, 2001 की पुनरीक्षित नीति के अनुसार 102 दैनिक मजदूरी वाले कर्मचारियों की सेवाएं नियमित की गई थीं । अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा जारी किए गए कार्यालय आदेश में प्रत्यर्थी का नाम शामिल था । परिणामस्वरूप, उसकी सेवाएं तारीख 6 नवम्बर, 2001 से नियमित हो गईं । तत्पश्चात्, अपीलार्थी-प्राधिकरण के दो कर्मचारियों ने इस कार्यालय आदेश को चुनौती देते हुए पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याचिका फाइल की और प्रत्यर्थी को उक्त रिट याचिका में पक्षकार के रूप में आलिप्त किया गया था । यह अभिकथित किया गया था कि कतिपय कर्मचारियों के, जिनके अंतर्गत प्रत्यर्थी भी है, नियमितीकरण में अनियमितताएं थीं । उच्च न्यायालय के निदेश के अनुसरण में, अपीलार्थी-प्राधिकरण ने उन कर्मचारियों की सूची की संवीक्षा की जिन्हें कार्यालय आदेश द्वारा नियमित किया गया था । प्राधिकरण ने कार्यपालक इंजीनियर (सी/परियोजना-II), मोहाली से रिपोर्ट मांगी । उस रिपोर्ट से यह प्रकट हुआ कि प्रत्यर्थी ने 22 जनवरी, 2001 से पूर्व तीन वर्ष की अपेक्षित सेवावधि पूरी नहीं की थी । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने प्रत्यर्थी को कारण बताओ सूचना जारी की जिसके द्वारा उसे अपीलार्थी-प्राधिकरण के मुख्य प्रशासक के समक्ष व्यक्तिगत सुनवाई के लिए उपस्थित होने का निदेश दिया गया । प्रत्यर्थी व्यक्तिगत सुनवाई के लिए उपस्थित हुआ । मुख्य प्रशासक ने यह पाया कि प्रत्यर्थी इस संबंध में किसी प्रकार का कोई साक्ष्य, चाहे वह दस्तावेज़ी हो या अन्यथा या कोई संतोषजनक सबूत प्रस्तुत करने में असफल रहा कि उसने 22 जनवरी, 2001 से पूर्व कम से कम तीन वर्ष के लिए अपीलार्थी-प्राधिकरण में सेवा की थी । मुख्य प्रशासक ने प्रत्यर्थी की सेवाओं के नियमितीकरण को बातिल कर दिया । प्रत्यर्थी ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष मुख्य प्रशासक द्वारा पारित आदेश को चुनौती दी । उच्च न्यायालय ने वह रिट याचिका खारिज कर दी और प्रत्यर्थी को अपनी शिकायतों के निवारण के लिए श्रम न्यायालय में समावेदन करने की स्वाधीनता प्रदान की । प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी-प्राधिकरण के विरुद्ध पंजाब के अपर श्रम आयुक्त के समक्ष एक औद्योगिक विवाद उठाया । वह मामला

सुलह के लिए निर्देशित कर दिया गया था । सुलह कार्यवाहियों के असफल होने पर, वह विवाद औद्योगिक अधिकरण, पटियाला को निर्देशित किया गया था । प्रत्यर्थी ने यह अभिकथित किया कि उसकी सेवाओं का पर्यवसान औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25च, 25छ और 25ज के अतिक्रमण में था । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने यह दलील दी कि प्रत्यर्थी ने दैनिक मजदूर के रूप में कार्य किया था, जिसका नाम मस्टर रोल पर था । अभिलेख के अनुसार, उसकी सेवा में 1 दिसम्बर, 1995 से 31 मार्च, 1997 तक व्यवधान थे । उसने 31 मार्च, 1997 से पूर्व केवल छह मास की सेवा की थी । प्रत्यर्थी को वर्ष 1997 के पश्चात् अपीलार्थी-प्राधिकरण में दैनिक मजदूर के रूप में नियोजित नहीं किया गया था । इसके अतिरिक्त, प्रभागीय इंजीनियर, पुडा, मोहाली द्वारा अधीक्षण इंजीनियर, पुडा, मोहाली को अग्रेषित की गई तारीख 12 सितम्बर, 2000 की मूल सूची में प्रत्यर्थी का नाम शामिल नहीं था । तथापि, नियमितीकरण के लिए सिफारिश की गई अंतिम सूची में प्रत्यर्थी का नाम अपीलार्थी-प्राधिकरण के कुछ पदाधिकारियों से मिलीभगत करके शामिल करा लिया गया था । औद्योगिक अधिकरण, पटियाला ने प्रत्यर्थी की ओर से किए गए निर्देश को खारिज कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चूंकि प्रत्यर्थी का तारीख 26 दिसम्बर, 2001 को सेवा में प्रवेश दोषपूर्ण माध्यमों से हुआ था इसलिए उसकी सेवाओं को समाप्त करके ठीक किया गया था । प्रत्यर्थी ने, औद्योगिक अधिकरण द्वारा पारित आदेश से व्यथित होकर, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याचिका फाइल की । उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने प्रत्यर्थी की ओर से फाइल की गई रिट याचिका मंजूर कर ली और औद्योगिक अधिकरण, पटियाला द्वारा पारित तारीख 15 अक्तूबर, 2013 के आदेश को अपास्त कर दिया । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने विद्वान् एकल न्यायाधीश के आदेश से व्यथित होकर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष 2018 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 894 फाइल की । खंड न्यायपीठ ने आक्षेपित अंतिम निर्णय और आदेश द्वारा अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा फाइल की गई लेटर्स पेटेंट अपील खारिज कर दी और एकल न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश को अभिपुष्ट कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पंजाब

शहरी योजना एवं विकास प्राधिकरण कर्मचारी (दंड और अपील) विनियम, 1997 में किसी नियमित कर्मचारी की पदच्युति या सेवा-समाप्ति से पूर्व नियमित विभागीय जांच आरंभ करने से संबंधित उपबंध अंतर्विष्ट थे । प्रत्यर्थी को मात्र कारण बताओ सूचना जारी करके उसकी सेवाएं समाप्त करना न केवल विनियमों से असंबद्ध था बल्कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के भी प्रतिकूल था । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा पारित निर्णय और आदेश को चुनौती देने के लिए प्रस्तुत सिविल अपील फाइल की है । इस न्यायालय ने तारीख 22 नवम्बर, 2018 को प्रत्यर्थी को, अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा प्रत्यर्थी के लिए मुकदमे के खर्च मद्धे 25,000/- रुपए जमा कराने के अधीन रहते हुए सूचना जारी की । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने इस न्यायालय में उपर्युक्त रकम जमा करा दी । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह सुस्थापित है कि तथ्यों के दुर्व्यपदेशन द्वारा या सक्षम प्राधिकारी के साथ कपट करके प्राप्त किया गया नियमितीकरण का आदेश विधि की दृष्टि में कायम नहीं रखा जा सकता है । चूंकि प्रत्यर्थी की नियमित आधार पर नियुक्ति ही अवैध थी इसलिए उसे अपीलार्थी-प्राधिकरण का कर्मचारी नहीं माना जा सकता था । ऐसी नियुक्ति की अवैधता प्रत्यर्थी को नियमित कर्मचारी के रूप में आमेलित किए जाने पर आधारित है । प्रत्यर्थी को "कर्मचारी" नहीं समझा जा सकता था और वह अपीलार्थी-प्राधिकरण के कर्मचारियों को लागू विनियमों के अधीन किसी फायदे का हकदार नहीं होगा । (पैरा 5 और 6)

संविधान के अनुच्छेद 311 के अधीन या किन्हीं अन्य अनुशासन संबंधी नियमों के अधीन यथा-प्रकल्पित अनुशासनिक कार्यवाहियां करने का प्रश्न प्रस्तुत मामले में उद्भूत नहीं होता था चूंकि प्रत्यर्थी स्वीकृततः, अपीलार्थी-प्राधिकरण का "कर्मचारी" नहीं था और वह राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद धारण नहीं करता था । वह अपीलार्थी-प्राधिकरण के मस्टर रोल पर मात्र एक दैनिक मजदूर था । मामले के तथ्यों और अभिलेख पर मौजूद सामग्री से यह प्रचुर रूप से स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी की सेवाओं का नियमितीकरण अवैध और अविधिमान्य था । प्रत्यर्थी को यह

स्थापित करने के लिए साक्ष्य पेश करने का पूरा अवसर प्रदान किया गया था कि उसने 22 जनवरी, 2001 से पूर्व तीन वर्ष की निरन्तर सेवा कर ली थी । तथापि, वह अपने दावे को सिद्ध करने के लिए किसी भी प्रकार का कोई सबूत प्रस्तुत करने में असफल रहा था । (पैरा 7 और 8)

प्रत्यर्थी की नियमित आधार पर नियुक्ति अविधिमान्य थी चूंकि प्रत्यर्थी के पास 22 जनवरी, 2001 से पूर्व निरन्तर तीन वर्ष तक सेवा करने का पूर्वापेक्षित अनुभव नहीं था । प्रत्यर्थी ने नियमितीकरण के लिए सिफारिश किए गए कर्मचारियों की अंतिम सूची में अंतर्वेशन कराने के आधार पर नियमितीकरण सुनिश्चित करने की ईप्सा की थी । ऐसी नियुक्ति आरंभ से अवैध और शून्य होगी और उसे कायम नहीं रखा जा सकता है । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने तारीख 22 मई, 2003 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की सेवा समाप्त करके ठीक किया है । तथापि, प्रत्यर्थी इस न्यायालय द्वारा पारित तारीख 22 नवम्बर, 2018 के अंतरिम आदेश के अनुसरण में अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा खर्चे मद्धे जमा की गई 25,000/- रुपए की रकम निकालने का हकदार होगा । रजिस्ट्री को यह निदेश दिया जाता है कि उक्त रकम प्रत्यर्थी के पक्ष में निर्मोचित की जाए । (पैरा 9)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2018]	(2018) 15 स्केल 352 : **बिहार राज्य और अन्य** बनाम **कीर्ति नारायण प्रसाद** ;	7
[2013]	(2013) 9 एस. सी. सी. 363 : **देवेन्द्र कुमार** बनाम **उत्तरांचल राज्य और अन्य** ;	5
[2010]	(2010) 1 एस. सी. सी. 345 : **रूपा रानी रक्षित और अन्य** बनाम **झारखंड ग्रामीण बैंक और अन्य** ;	6
[2007]	(2007) 2 एस. सी. सी. 335 : **डाकघर अधीक्षक और अन्य** बनाम **आर. वालसीना बाबू** ;	7

[2006] (2006) 6 एस. सी. सी. 275 :
राजस्थान पर्यटन विकास निगम और एक अन्य
बनाम **इंतेजाम अली ज़ाफरी** ; 5

[2005] (2005) 7 एस. सी. सी. 690 :
बैंक ऑफ इंडिया बनाम **अविनाश डी. मांडिविकर** ; 5

[1993] (1993) 4 एस. सी. सी. 727 :
प्रबंध निदेशक, ई. सी. आई. एल., हैदराबाद और अन्य बनाम **बी. करुणाकर और अन्य** । 4,6

सिविल अपीली अधिकारिता : 2019 की सिविल अपील सं. 3925.

2018 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 894 में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की चंडीगढ़ न्यायपीठ के तारीख 9 जुलाई, 2018 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से श्रीमती रचना जोशी इस्सर, के. वैजयन्ती, शैलभ पांडेय और सुश्री प्रेरणा चतुर्वेदी

प्रत्यर्थी की ओर से श्री मुकेश कुमार शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (सुश्री) इन्दु मल्होत्रा ने दिया ।

न्या. (सुश्री) मल्होत्रा – इजाजत दी जाती है । प्रस्तुत सिविल अपील पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की चंडीगढ़ खंड न्यायपीठ द्वारा 2018 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 894 में पारित तारीख 9 जुलाई, 2018 के अंतिम निर्णय और आदेश को चुनौती देने के लिए फाइल की गई है ।

2. इस मामले की तथ्यात्मक पृष्ठभूमि निम्नलिखित रूप में है :–

2.1. प्रत्यर्थी को अपीलार्थी-पंजाब शहरी योजना और विकास प्राधिकरण द्वारा तारीख 1 दिसम्बर, 1995 को दैनिक मजदूरी पर चौकीदार के रूप में नियुक्त किया गया था । उसका नाम तारीख 31 मार्च, 1997 तक मस्टर रोल पर था ।

2.2. पंजाब सरकार ने तारीख 23 जनवरी, 2001 को

निर्धारित-कर्म कर्मचारियों/दैनिक मजदूरी वाले और अन्य प्रवर्गों के कर्मचारियों के नियमितीकरण से संबंधित नीति में पुनरीक्षण किया ।

पुनरीक्षित नीति के अनुसार, पंजाब सरकार के अधीन सभी विभागों को ऐसे निर्धारित-कर्म कर्मचारियों, दैनिक मजदूरी वाले कर्मचारियों और अन्य समरूप प्रवर्गों के कर्मचारियों की सूचियां तैयार करने का निदेश दिया था, जिन्होंने तीन वर्ष की सेवा पूरी कर ली थी । इन सूचियों में से कर्मचारियों को प्रत्येक विभाग में विद्यमान नियमित पदों पर उनकी ज्येष्ठता के क्रम में आमेलित/नियमित किया जाएगा ।

2.3. अपीलार्थी-प्राधिकरण ने तारीख 26 दिसम्बर, 2001 को एक कार्यालय आदेश जारी किया, जिसके द्वारा राज्य सरकार की तारीख 23 जनवरी, 2001 की पुनरीक्षित नीति के अनुसार 102 दैनिक मजदूरी वाले कर्मचारियों की सेवाएं नियमित की गई थीं ।

2.4. अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा जारी किए गए कार्यालय आदेश में प्रत्यर्थी का नाम शामिल था । परिणामस्वरूप, उसकी सेवाएं तारीख 6 नवम्बर, 2001 से नियमित हो गईं ।

2.5. तत्पश्चात्, अपीलार्थी-प्राधिकरण के दो कर्मचारी, अर्थात्, बलदेव सिंह और रिखी राम ने तारीख 26 दिसम्बर, 2001 के कार्यालय आदेश को चुनौती देते हुए पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष 2002 की रिट याचिका सं. 15843 फाइल की । प्रत्यर्थी को उक्त रिट याचिका में पक्षकार के रूप में आलिप्त किया गया था । यह अभिकथित किया गया था कि कतिपय कर्मचारियों के, जिनके अंतर्गत प्रत्यर्थी भी है, नियमितीकरण में अनियमितताएं थीं ।

2.6. उच्च न्यायालय ने तारीख 1 अक्तूबर, 2002 के आदेश द्वारा अपीलार्थी-प्राधिकरण को यह निदेश दिया कि इस रिट याचिका को रिट याचियों की ओर से किया गया अभ्यावेदन माना जाए और चार मास के भीतर एक सकारण आदेश पारित किया जाए ।

2.7. उच्च न्यायालय के निदेश के अनुसरण में, अपीलार्थी-

प्राधिकरण ने उन कर्मचारियों की सूची की संवीक्षा की जिन्हें तारीख 26 दिसम्बर, 2001 के कार्यालय आदेश द्वारा नियमित किया गया था । प्राधिकरण ने कार्यपालक इंजीनियर (सी/परियोजना-II), मोहाली से रिपोर्ट मांगी । उस रिपोर्ट से यह प्रकट हुआ कि प्रत्यर्थी ने 22 जनवरी, 2001 से पूर्व तीन वर्ष की अपेक्षित सेवावधि पूरी नहीं की थी ।

2.8. अपीलार्थी-प्राधिकरण ने प्रत्यर्थी को तारीख 24 मार्च, 2003 की कारण बताओ सूचना जारी की जिसके द्वारा उसे तारीख 31 मार्च, 2003 को अपीलार्थी-प्राधिकरण के मुख्य प्रशासक के समक्ष व्यक्तिगत सुनवाई के लिए उपस्थित होने का निदेश दिया गया ।

2.9. प्रत्यर्थी अपीलार्थी-प्राधिकरण के मुख्य प्रशासक के समक्ष व्यक्तिगत सुनवाई के लिए तारीख 31 मार्च, 2003 को उपस्थित हुआ । मुख्य प्रशासक ने यह पाया कि प्रत्यर्थी इस संबंध में किसी प्रकार का कोई साक्ष्य, चाहे वह दस्तावेज़ी हो या अन्यथा या कोई संतोषजनक सबूत प्रस्तुत करने में असफल रहा कि उसने 22 जनवरी, 2001 से पूर्व कम से कम तीन वर्ष के लिए अपीलार्थी-प्राधिकरण में सेवा की थी ।

मुख्य प्रशासक ने तारीख 22 मई, 2003 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की सेवाओं के नियमितीकरण को बातिल कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रत्यर्थी की सेवाओं का नियमितीकरण पंजाब सरकार द्वारा तारीख 23 जनवरी, 2001 को जारी की गई पुनरीक्षित नीति के अनुसार नहीं था ।

2.10. प्रत्यर्थी ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष 2003 की रिट याचिका सं. 8354 के द्वारा मुख्य प्रशासक द्वारा पारित तारीख 22 मई, 2003 के आदेश को चुनौती दी ।

उच्च न्यायालय ने तारीख 23 अक्तूबर, 2003 के आदेश द्वारा वह रिट याचिका खारिज कर दी और प्रत्यर्थी को अपनी शिकायतों के निवारण के लिए श्रम न्यायालय में समावेदन करने की स्वाधीनता प्रदान की ।

2.11. प्रत्यर्थी ने तारीख 20 दिसम्बर, 2003 को अपीलार्थी-प्राधिकरण के विरुद्ध पंजाब के अपर श्रम आयुक्त के समक्ष एक औद्योगिक विवाद उठाया । वह मामला सुलह के लिए निर्देशित कर दिया गया था ।

सुलह कार्यवाहियों के असफल होने पर, वह विवाद औद्योगिक अधिकरण, पटियाला को निर्देशित किया गया था ।

2.12. प्रत्यर्थी ने यह दलील दी कि अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा तारीख 21 नवम्बर, 2003 के आदेश द्वारा उसकी सेवाओं को अवैध रूप से समाप्त किया गया था । उसने यह दलील दी कि उसने अपीलार्थी-प्राधिकरण में 1 दिसम्बर, 1995 से 21 नवम्बर, 2003 तक निरन्तर कार्य किया था और उसने पिछले कलैंडर वर्ष में 240 दिनों से अधिक की सेवा की थी । प्रत्यर्थी ने यह अभिकथित किया कि उसकी सेवाओं का पर्यवसान औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25च, 25छ और 25ज के अतिक्रमण में था ।

2.13. अपीलार्थी-प्राधिकरण ने यह दलील दी कि प्रत्यर्थी ने दैनिक मजदूर के रूप में कार्य किया था, जिसका नाम मस्टर रोल पर था । अभिलेख के अनुसार, उसकी सेवा में 1 दिसम्बर, 1995 से 31 मार्च, 1997 तक व्यवधान थे । उसने 31 मार्च, 1997 से पूर्व केवल छह मास की सेवा की थी । प्रत्यर्थी को वर्ष 1997 के पश्चात् अपीलार्थी-प्राधिकरण में दैनिक मजदूर के रूप में नियोजित नहीं किया गया था ।

इसके अतिरिक्त, यह दलील दी गई थी कि प्रभागीय इंजीनियर, पुडा, मोहाली द्वारा अधीक्षण इंजीनियर, पुडा, मोहाली को अग्रेषित की गई तारीख 12 सितम्बर, 2000 की मूल सूची में प्रत्यर्थी का नाम शामिल नहीं था ।

तथापि, नियमितीकरण के लिए सिफारिश की गई अंतिम सूची में प्रत्यर्थी का नाम अपीलार्थी-प्राधिकरण के कुछ पदाधिकारियों से मिलीभगत करके शामिल करा लिया गया था ।

2.14. औद्योगिक अधिकरण, पटियाला ने तारीख 15

अक्तूबर, 2013 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की ओर से किए गए निर्देश को खारिज कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चूंकि प्रत्यर्थी का तारीख 26 दिसम्बर, 2001 को सेवा में प्रवेश दोषपूर्ण माध्यमों से हुआ था इसलिए तारीख 22 मई, 2003 के आदेश द्वारा उसकी सेवाओं को समाप्त करके ठीक किया गया था ।

2.15. प्रत्यर्थी ने, औद्योगिक अधिकरण द्वारा पारित आदेश से व्यथित होकर, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष 2014 की रिट याचिका सं. 21519 फाइल की ।

उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने तारीख 7 फरवरी, 2018 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की ओर से फाइल की गई रिट याचिका मंजूर कर ली और औद्योगिक अधिकरण, पटियाला द्वारा पारित तारीख 15 अक्तूबर, 2013 के आदेश को अपास्त कर दिया ।

विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी की सेवाएं, राज्य सरकार की पुनरीक्षित नीति के अधीन तारीख 26 दिसम्बर, 2001 को, "सही या गलत तौर पर", नियमित कर दी गई थीं । अतः, प्रत्यर्थी को तारीख 26 दिसम्बर, 2001 को स्थायी हैसियत प्रदान कर दी गई थी ।

विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी-प्राधिकरण के लिए यह आवश्यक था कि किसी स्थायी कर्मचारी की सेवा समाप्त करने या उसे पदच्युत करने से पूर्व विनियमों के अधीन आरोप पत्र जारी किया जाता और जांच कराई जाती । निर्विवाद रूप से, चूंकि कोई आरोप पत्र जारी नहीं किया गया था या जांच नहीं कराई गई थी इसलिए प्रत्यर्थी को मात्र कारण बताओ सूचना जारी करके और उसकी व्यक्तिगत सुनवाई करके उसकी सेवा समाप्त करने की कार्रवाई करने से विनियमों का पर्याप्त अनुपालन नहीं हुआ था । तारीख 22 मई, 2003 के सेवा-समाप्ति के आदेश और औद्योगिक अधिकरण के अधिनिर्णय को अपास्त कर दिया गया था ।

विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अपीलार्थी-प्राधिकरण को प्रत्यर्थी

के विरुद्ध कानूनी विनियमों के अधीन कार्रवाई करने की स्वाधीनता प्रदान की । यह आदेश किया गया था कि अपीलार्थी-प्राधिकरण प्रत्यर्थी के विरुद्ध अनुशासनिक जांच कराने के पश्चात् एक अंतिम आदेश पारित करे । प्रत्यर्थी के बारे में यह समझा जाएगा कि वह उस तारीख से जब उसकी सेवाएं समाप्त की गई थीं, अर्थात्, 22 मई, 2003 से अंतिम आदेश पारित किए जाने की तारीख तक निलंबनाधीन है ।

इसके अलावा, अपीलार्थी-प्राधिकरण को यह निदेश दिया गया था कि वह प्रत्यर्थी को देय जीवन-निर्वाह भत्ते की संगणना करे और तारीख 22 मई, 2003 से आगे उसका संवितरण करे तथा उसके विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाहियों की समाप्ति तक उसे उसका संवितरण करता रहे ।

2.16. अपीलार्थी-प्राधिकरण ने विद्वान् एकल न्यायाधीश के आदेश से व्यथित होकर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष 2018 की लेटर्स पेटेंट अपील सं. 894 फाइल की ।

खंड न्यायपीठ ने तारीख 9 जुलाई, 2018 के आक्षेपित अंतिम निर्णय और आदेश द्वारा अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा फाइल की गई लेटर्स पेटेंट अपील खारिज कर दी और एकल न्यायाधीश द्वारा पारित तारीख 7 फरवरी, 2018 के आदेश को अभिपुष्ट कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पंजाब शहरी योजना एवं विकास प्राधिकरण कर्मचारी (दंड और अपील) विनियम, 1997 में किसी नियमित कर्मचारी की पदच्युति या सेवा-समाप्ति से पूर्व नियमित विभागीय जांच आरंभ करने से संबंधित उपबंध अंतर्विष्ट थे । प्रत्यर्थी को मात्र कारण बताओ सूचना जारी करके उसकी सेवाएं समाप्त करना न केवल विनियमों से असंबद्ध था बल्कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के भी प्रतिकूल था ।

2.17. अपीलार्थी-प्राधिकरण ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 9 जुलाई, 2018 के निर्णय और आदेश को चुनौती देने के लिए प्रस्तुत सिविल अपील

फाइल की है ।

इस न्यायालय ने तारीख 22 नवम्बर, 2018 को प्रत्यर्थी को, अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा प्रत्यर्थी के लिए मुकदमे के खर्च मद्धे 25,000/- रुपए जमा कराने के अधीन रहते हुए सूचना जारी की । अपीलार्थी-प्राधिकरण ने इस न्यायालय में उपर्युक्त रकम जमा करा दी ।

3. हमने अपीलार्थी-प्राधिकरण की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्रीमती रचना जोशी इस्सर की सुनवाई की, जिसने अन्य बातों के साथ-साथ निम्न प्रकार दलील दी :–

3.1. प्रत्यर्थी ने प्राधिकरण में दैनिक मजदूर के रूप में कार्य किया था और उसका नाम 1 दिसम्बर, 1995 से 31 मार्च, 1997 तक मस्टर रोल पर था । उसने 31 मार्च, 1997 से पूर्व केवल छह मास की सेवा की थी और उसके पश्चात् सेवा में नहीं था । अतः, वह तारीख 23 जनवरी, 2001 की राज्य सरकार की पुनरीक्षित नीति के अधीन नियमित किए जाने का पात्र नहीं था, जिसमें कर्मचारी के नियमितीकरण के लिए पात्र होने के लिए 22 जनवरी, 2001 से पूर्व तीन वर्ष की निरन्तर सेवा पूरी करना अपेक्षित था ।

इसके आगे यह दलील दी गई थी कि प्रत्यर्थी ने कपटपूर्वक और अपीलार्थी-प्राधिकरण के कुछ पदाधिकारियों की मिलीभगत से नियमितीकरण के लिए सिफारिश किए गए कर्मचारियों की अंतिम सूची में गुप्त रूप में अपना नाम शामिल करा लिया ।

3.2. कार्यपालक इंजीनियर (सी/परियोजना-II) मोहाली द्वारा मुख्य प्रशासक को प्रस्तुत की गई रिपोर्ट से यह दर्शित हुआ था कि प्रत्यर्थी ने 22 जनवरी, 2001 तक तीन वर्ष या उससे अधिक अवधि तक सेवा करने की आज्ञापक पूर्वापेक्षा पूरी नहीं की थी ।

मुख्य प्रशासक ने तारीख 22 मई, 2003 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की सेवाओं के नियमितीकरण से संबंधित तारीख 26 दिसम्बर, 2001 के कार्यालय आदेश को बातिल कर दिया था ।

3.3. इसके अलावा, यह दलील दी गई थी कि अपीलार्थी-

प्राधिकरण ने उन पदाधिकारियों के विरुद्ध अनुशासनिक जांच कराई, जिन्होंने नियमितीकरण के लिए प्रत्यर्थी के नाम की सिफारिश की थी । तारीख 25 जनवरी, 2005 की जांच रिपोर्ट में यह पाया गया कि चार पदाधिकारियों ने प्रत्यर्थी और कुछ ऐसे अन्य दैनिक मजदूरों के नियमितीकरण की बाबत गलत जानकारी प्रदत्त की थी, जिन्होंने तीन वर्ष से कम अवधि की सेवा की थी ।

चूंकि प्रत्यर्थी की नियमित आधार पर की गई नियुक्ति इस कारण शून्य थी क्योंकि वह दुरभिसंधि करके कपटपूर्वक प्राप्त की गई थी, इसलिए प्रत्यर्थी औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के उपबंधों के अधीन संरक्षण का हकदार नहीं था ।

4. प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री मुकेश कुमार शर्मा ने यह दलील दी कि :–

4.1. उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश और खंड न्यायपीठ द्वारा पारित आदेशों में कोई त्रुटि नहीं थी ।

4.2. यह दलील दी गई थी कि प्रस्तुत मामला इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा **प्रबंध निदेशक, ई. सी. आई. एल., हैदराबाद और अन्य** बनाम **बी. करुणाकर और अन्य**[1] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय के अंतर्गत आता था ।

5. हमने पक्षकारों द्वारा किए गए अभिवचनों और लिखित निवेदनों का सावधानीपूर्वक परिशीलन किया है और मौखिक सुनवाई के दौरान किए गए निवेदनों पर भी विचार किया है :–

5.1. प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थी ने अपनी सेवाओं का नियमितीकरण सुनिश्चित करने की ईप्सा की थी हालांकि वह निर्धारित-कर्म कर्मचारियों, दैनिक मजदूरी वाले और अन्य समरूप प्रवर्गों के कर्मचारियों के नियमितीकरण के लिए पंजाब सरकार की पुनरीक्षित नीति के अनुसार 22 जनवरी, 2001 से पूर्व कम से कम तीन वर्ष की निरन्तर सेवा पूरी करने संबंधी पूर्वापेक्षा को पूरा नहीं

[1] (1993) 4 एस. सी. सी. 727.

करता था ।

प्रत्यर्थी नियमितीकरण के लिए अपने दावे के समर्थन में किसी प्रकार का कोई साक्ष्य प्रस्तुत करने में असफल रहा था ।

5.2. प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी-प्राधिकरण के कतिपय पदाधिकारियों से मिलीभगत करके नियमितीकरण के लिए सिफारिश की गई अंतिम सूची में अपना नाम शामिल कराने की कोशिश की थी, जिन्होंने प्राधिकरण को अग्रेषित अंतिम सूची में उसका नाम अंतर्वेशित किया था ।

5.3. अपीलार्थी-प्राधिकरण ने प्रभागीय इंजीनियर, मोहाली द्वारा तैयार की गई तारीख 12 सितम्बर, 2000 की मूल सूची की एक प्रति फाइल की है । उक्त सूची में ऐसे 21 कर्मचारियों के नाम शामिल थे, जिनके नामों की आरंभ में नियमितीकरण के लिए सिफारिश की गई थी ।

तारीख 12 सितम्बर, 2000 की सूची का परिशीलन करने से यह प्रकट होता है कि आरंभ में नियमितीकरण के लिए प्रत्यर्थी के नाम की सिफारिश नहीं की गई थी । तथापि, अपीलार्थी-प्राधिकरण को अग्रेषित अंतिम सूची में प्रत्यर्थी का नाम अंतर्वेशित किया गया था ।

5.4. इस बात का अवधारण करने के लिए सम्यक् रूप से एक जांच कराई गई थी कि क्या प्राधिकरण से संबंधित पदाधिकारियों द्वारा गलत जानकारी प्रदत्त की गई थी जिससे कि प्रत्यर्थी नियमितीकरण का फायदा प्राप्त कर सके ।

अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा कराई गई जांच से यह प्रकट हुआ था कि पदाधिकारी, कुछ दैनिक मजदूरों द्वारा, जिनमें प्रत्यर्थी भी है, प्रदान की गई सेवा की अवधि के संबंध में प्राधिकारियों को गलत जानकारी प्रदत्त करने के दोषी थे । वे पदाधिकारी प्रदत्त की गई जानकारी प्राधिकरण को अग्रेषित करने से पूर्व उसे सत्यापित करने में असफल रहे थे । परिणामस्वरूप, प्रत्येक पदाधिकारी के विरुद्ध दंडात्मक आदेश पारित किए गए थे ।

इन परिस्थितियों में, प्रत्यर्थी पूर्वापेक्षित अपेक्षा को पूरा करने के अभाव में अपीलार्थी-प्राधिकरण में नियमित नियुक्ति का फायदा प्राप्त करने के लिए निर्हकित था ।

5.5. यह सुस्थापित है कि तथ्यों के दुर्व्यपदेशन द्वारा या सक्षम प्राधिकारी के साथ कपट करके प्राप्त किया गया नियमितीकरण का आदेश विधि की दृष्टि में कायम नहीं रखा जा सकता है । (देखिए **देवेन्द्र कुमार** बनाम **उत्तरांचल राज्य और अन्य**[1] वाला मामला देखिए)

राजस्थान पर्यटन विकास निगम और एक अन्य बनाम **इंतेजाम अली ज़ाफरी**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि आरंभिक नियुक्ति ही शून्य है तब ऐसे कर्मचारी की सेवाओं का पर्यवसान करने के लिए औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के उपबंध लागू नहीं होते हैं ।

इसी प्रकार के एक मामले में इस न्यायालय ने **बैंक ऑफ इंडिया** बनाम **अविनाश डी. मांडिविकर**[3] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि चूंकि प्रत्यर्थी ने अपनी नियुक्ति कपट करके अभिप्राप्त की थी इसलिए उसे उसके फायदे प्राप्त करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता था ।

6. प्रस्तुत मामले में, एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि प्रत्यर्थी ने "सही या गलत तौर पर" नियमितीकरण प्राप्त कर लिया था और इसलिए वह अनुशासनिक जांच का हकदार था । खंड न्यायपीठ ने एकल न्यायाधीश के निर्णय को अभिपुष्ट कर दिया था ।

6.1. तथापि, उच्च न्यायालय इस बात का मूल्यांकन करने में असफल रहा कि **प्रबंध निदेशक, ई. सी. आई. एल., हैदराबाद** (उपर्युक्त) वाला मामला सरकारी विभागों के "कर्मचारियों" को लागू होता है । चूंकि प्रत्यर्थी की नियमित आधार पर नियुक्ति ही अवैध

---

[1] (2013) 9 एस. सी. सी. 363.

[2] (2006) 6 एस. सी. सी. 275.

[3] (2005) 7 एस. सी. सी. 690.

थी इसलिए उसे अपीलार्थी-प्राधिकरण का कर्मचारी नहीं माना जा सकता था ।

रूपा रानी रक्षित और अन्य बनाम **झारखंड ग्रामीण बैंक और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी अवैध नियुक्ति या प्रोन्नति के अनुसरण में प्रदान की गई सेवा की तुलना किसी विधिमान्य और वैधपूर्ण नियुक्ति या प्रोन्नति के अनुसरण में प्रदान की गई सेवा से नहीं की जा सकती है ।

6.2. ऐसी नियुक्ति की अवैधता प्रत्यर्थी को नियमित कर्मचारी के रूप में आमेलित किए जाने पर आधारित है । प्रत्यर्थी को "कर्मचारी" नहीं समझा जा सकता था और वह अपीलार्थी-प्राधिकरण के कर्मचारियों को लागू विनियमों के अधीन किसी फायदे का हकदार नहीं होगा ।

अतः, उच्च न्यायालय ने **प्रबंध निदेशक, ई. सी. आई. एल., हैदराबाद** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चय का अवलंब लेकर गलत किया है, जो कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होगा ।

7. संविधान के अनुच्छेद 311 के अधीन या किन्हीं अन्य अनुशासन संबंधी नियमों के अधीन यथा-प्रकल्पित अनुशासनिक कार्यवाहियां करने का प्रश्न प्रस्तुत मामले में उद्भूत नहीं होता था चूंकि प्रत्यर्थी स्वीकृततः, अपीलार्थी-प्राधिकरण का "कर्मचारी" नहीं था और वह राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद धारण नहीं करता था (**बिहार राज्य और अन्य** बनाम **कीर्ति नारायण प्रसाद**[2] और **डाकघर अधीक्षक और अन्य** बनाम **आर. वालसीना बाबू**[3] वाले मामले देखिए) । वह अपीलार्थी-प्राधिकरण के मस्टर रोल पर मात्र एक दैनिक मजदूर था ।

8. मामले के तथ्यों और अभिलेख पर मौजूद सामग्री से यह प्रचुर रूप से स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी की सेवाओं का नियमितीकरण अवैध और अविधिमान्य था । प्रत्यर्थी को यह स्थापित करने के लिए साक्ष्य पेश

---

[1] (2010) 1 एस. सी. सी. 345.

[2] (2018) 15 स्केल 352.

[3] (2007) 2 एस. सी. सी. 335.

करने का पूरा अवसर प्रदान किया गया था कि उसने 22 जनवरी, 2001 से पूर्व तीन वर्ष की निरन्तर सेवा कर ली थी । तथापि, वह अपने दावे को सिद्ध करने के लिए किसी भी प्रकार का कोई सबूत प्रस्तुत करने में असफल रहा था ।

9. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, प्रस्तुत सिविल अपील मंजूर की जाती है और पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 9 जुलाई, 2018 का आदेश अपास्त किया जाता है ।

प्रत्यर्थी की नियमित आधार पर नियुक्ति अविधिमान्य थी चूंकि प्रत्यर्थी के पास 22 जनवरी, 2001 से पूर्व निरन्तर तीन वर्ष तक सेवा करने का पूर्वापेक्षित अनुभव नहीं था ।

प्रत्यर्थी ने नियमितीकरण के लिए सिफारिश किए गए कर्मचारियों की अंतिम सूची में अंतर्वेशन कराने के आधार पर नियमितीकरण सुनिश्चित करने की ईप्सा की थी । ऐसी नियुक्ति आरंभ से अवैध और शून्य होगी और उसे कायम नहीं रखा जा सकता है ।

अपीलार्थी-प्राधिकरण ने तारीख 22 मई, 2003 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी की सेवा समाप्त करके ठीक किया है ।

तथापि, प्रत्यर्थी इस न्यायालय द्वारा पारित तारीख 22 नवम्बर, 2018 के अंतरिम आदेश के अनुसरण में अपीलार्थी-प्राधिकरण द्वारा खर्चे मद्धे जमा की गई 25,000/- रुपए की रकम निकालने का हकदार होगा । रजिस्ट्री को यह निदेश दिया जाता है कि उक्त रकम प्रत्यर्थी के पक्ष में निर्मोचित की जाए । लंबित आवेदनों का, यदि कोई हैं, तद्नुसार निपटारा किया जाता है । तद्नुसार आदेश किया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.

———————

[2019] 4 उम. नि. प. 174

एस. सुब्रमण्यन्

बनाम

एस. रामास्वामी

[2019 की सिविल अपील सं. 4536-4537]

1 मई, 2019

न्यायमूर्ति एल. नागेश्वर राव और न्यायमूर्ति एम. आर. शाह

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) – धारा 100 – द्वितीय अपील – उच्च न्यायालय की शक्ति – उच्च न्यायालय द्वारा अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करके निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्ष को अपास्त करना – चूंकि द्वितीय अपील केवल विधि के सारवान् प्रश्न पर ही न कि तथ्य या विधि संबंधी किसी प्रश्न पर अनुज्ञेय होती है, इसलिए, विधि संबंधी प्रत्येक प्रश्न विधि का सारवान् प्रश्न नहीं हो सकता है तथा उच्च न्यायालय का निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त करना तब तक न्यायोचित नहीं हो सकता है जब तक कि वे निष्कर्ष प्रत्यक्षतः अनुचित और/या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल नहीं होते हैं ।

हिन्दू विधि – अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति – विभाजन के लिए वाद – स्वार्जित संपत्ति को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति में मिलाना – यदि संपत्ति के बारे में यह साबित हो जाता है कि वह अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब के एक सदस्य की स्वार्जित संपत्ति है क्योंकि वह संपत्ति उसके द्वारा अपने सीधे पुरुष पूर्वजों से नहीं बल्कि अपनी माता की बहिन के पति से अभिप्राप्त की गई थी तो मात्र इस कारण कि अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब का वह सदस्य अपने पुत्रों के साथ उस संपत्ति में रह रहा था और उस संपत्ति के संबंध में उन्होंने मिलकर कुछ उधार लिया था, यह नहीं कहा जा सकता है कि वादगत संपत्ति को पैतृक संपत्ति में मिला दिया गया था ।

प्रस्तुत मामले में, मूल वादी (इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 1) ने वादपत्र की अनुसूची में वर्णित स्थावर संपत्तियों की बाबत प्रतिवादी सं. 2 (इस मामले में अपीलार्थी) को वादगत संपत्तियों में वादी के एक-तिहाई सामान्य अंश की बाबत वादी और मूल प्रतिवादी सं. 2 के बीच स्थायी व्यादेश की डिक्री द्वारा माप और सीमांकन करके अंतिम विभाजन होने तक अन्यसंक्रामण या विल्लंगम करने या किसी किस्म की दस्तावेज़ का सृजन करने से अवरुद्ध करने के लिए आरंभ में 2006 का मूल वाद सं. 10 फाइल किया था । उक्त वाद मूल वादी द्वारा अपने पिता सेनगोडा गौंडर (मृत) तथा अपने छोटे भाई सुब्रमण्यन् के विरुद्ध फाइल किया गया था । उक्त वाद के लंबित रहने के दौरान इसी वादी ने अपने छोटे भाई और अपने पिता के विरुद्ध वादगत संपत्तियों के विभाजन के लिए 2005 का मूल वाद सं. 19 फाइल किया । मूल वादी का यह पक्षकथन था कि वादी और उसका पिता तथा उसका छोटा भाई एक हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब गठित करते थे जिसके स्वामित्व में पैतृक संपत्तियां थीं । वादी की ओर से इसके अलावा यह पक्षकथन किया गया कि वादी के पिता ने तारीख 7 अप्रैल, 1956 का प्रदर्श ए1-व्यवस्थापन विलेख कुमारस्वामी गौंडर नामक व्यक्ति द्वारा सेनगोडा गौंडर के पक्ष में निष्पादित कराया । वादी की ओर से यह कथन किया गया था कि उस समय से पैतृक संपत्तियों सहित वादगत संपत्तियों को भी अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियां माना गया था और सभी तीनों सहदायिक उनका मिलकर उपभोग कर रहे थे । यह अभिकथन किया गया था कि चूंकि वादी का पिता और उसका छोटा भाई, एक-दूसरे से दुरभिसंधि करके वादगत संपत्ति का अन्यसंक्रामण करने का प्रयत्न कर रहे थे इसलिए प्रथम व्यादेश वाद (2005 का मूल वाद सं. 19) फाइल किया गया था । इस वाद का मूल प्रतिवादी-वादी के छोटे भाई द्वारा विरोध किया गया था । मूल प्रतिवादी की ओर से यह पक्षकथन किया गया था कि सेनगोडा गौंडर और उसके दो पुत्रों, अर्थात्, रामास्वामी और सुब्रमण्यन् के बीच कभी भी कोई अविभक्त कुटुम्ब विद्यमान नहीं था । यह कि वादगत संपत्तियां सेनगोडा गौंडर द्वारा वर्ष 1956 के दौरान प्रदर्श ए1-व्यवस्थापन विलेख के अनुसार उसकी स्वार्जित संपत्तियों के रूप में अभिप्राप्त की गई थीं । यह कि सेनगोडा गौंडर के पुत्रों, अर्थात्

रामास्वामी और सुब्रमण्यन् का वादगत संपत्तियों से कोई संबंध नहीं था और उनका उसमें कोई सांपत्तिक अधिकार या अंश नहीं था और यह कि उन्हें कभी भी अविभक्त कुटुम्ब संपत्तियां नहीं माना गया था । प्रतिवादी की ओर से विनिर्दिष्ट पक्षकथन यह किया गया था कि वास्तव में सेनगोडा गौंडर ने अपने जीवनकाल के दौरान सुब्रमण्यन् के पक्ष में दो व्यवस्थापन विलेख, प्रदर्श ए13 और ए14 निष्पादित किए थे और इसके पश्चात् उसने सुब्रमण्यन् के पक्ष में तारीख 8 नवम्बर, 2004 की वसीयत, प्रदर्श बी24 भी निष्पादित की । प्रतिवादी की ओर से यह पक्षकथन किया गया था कि इस प्रकार सुब्रमण्यन्-प्रतिवादी वादगत संपत्तियों का आत्यंतिक स्वामी बना । प्रतिवादी की ओर से यह भी दलील दी गई थी कि द्वितीय वाद सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 द्वारा वर्जित भी है । प्रतिवादी की ओर से यह कथन किया गया था कि वादी ने व्यादेश वाद (प्रथम वाद) फाइल किए जाने से पूर्व विभाजन की ईप्सा करते हुए सूचना जारी की और इसके बावजूद उसने आरंभ में केवल व्यादेश वाद फाइल किया और इसके पश्चात्, बिना किसी तुक या कारण के और व्यादेश वाद फाइल करते समय न्यायालय से बाद में विभाजन वाद फाइल करने की अनुज्ञा अभिप्राप्त किए बिना उसने केवल द्वितीय वाद फाइल कर दिया, जो कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 द्वारा वर्जित था । विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । दोनों वादों का संयुक्त रूप से विचारण किया गया । विद्वान् विचारण न्यायालय ने साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् दोनों वाद खारिज कर दिए । असफल वादी द्वारा फाइल की गई अपीलें विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गईं । प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित उस सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट महसूस करते हुए, जिसके द्वारा अपीलें खारिज कर दी गई थीं और विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा वादों को खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को पुष्ट कर दिया गया था, मूल वादी ने उच्च न्यायालय के समक्ष दो द्वितीय अपीलें फाइल कीं । उच्च न्यायालय ने विधि के कतिपय प्रश्न, विधि के सारवान् प्रश्नों के रूप में बनाए और विरचित किए । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा और अभिलेख पर विद्यमान संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन

करने के पश्चात् विधि के उपर्युक्त प्रश्नों/विधि के सारवान् प्रश्नों का उत्तर देते हुए दोनों अपीलें मंजूर कर लीं और विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय के सामान्य निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया और विभाजन की प्रारंभिक डिक्री तैयार करने का निदेश दिया है, जिसमें वादी और प्रतिवादी, प्रत्येक को आधा अंश आबंटित किया जाए । मूल प्रतिवादियों ने उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट महसूस करते हुए, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय अभिलेख पर विद्यमान संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया है और दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त कर दिया था, प्रस्तुत अपीलें फाइल की हैं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – उच्च न्यायालय ने गुणागुण के आधार पर यह अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की है कि सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाया गया था । यह एक स्वीकृत स्थिति है कि, जैसा कि उच्च न्यायालय द्वारा मत व्यक्त किया गया है और अभिनिर्धारित किया गया है कि वादगत संपत्तियां तारीख 7 अप्रैल, 1956 के व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए1 के अनुसरण में सेनगोडा गौंडर की स्वार्जित संपत्तियां थीं क्योंकि सेनगोडा गौंडर द्वारा वे संपत्तियां अपने सीधे पुरुष पूर्वजों से अभिप्राप्त नहीं की गई थीं बल्कि अपनी माता की बहिन के पति से अभिप्राप्त की गई थीं । उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि जब कुछ संपत्तियों का विक्रय किया गया था तब तारीख 7 अप्रैल, 1956 के व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए1 में विनिर्दिष्ट इनमें से कुछ संपत्तियों का विक्रय किया गया था और विवरण में यह उल्लेख किया गया था कि इन संपत्तियों का विक्रय कुटुम्ब के खर्चों और फार्म के व्ययों की अत्यावश्यक आवश्यकता को पूरा करने के लिए किया गया था और यह उल्लेख किया गया था कि वे संपत्तियां उनके पूर्वजों के माध्यम से संयुक्त रूप से उनकी थीं । तथापि, दस्तावेज़ी साक्ष्य और विशेष रूप से व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए13, ए14 और स्वयं सेनगोडा गौंडर द्वारा निष्पादित

वसीयत-प्रदर्श बी24, जिसके द्वारा वही संपत्तियां मूल प्रतिवादी-उसके पुत्र सुब्रमण्यन् को दी गई थीं, पर विचार करने पर पिता-सेनगोडा गौंडर का आशय अत्यंत स्पष्ट था कि वादगत संपत्तियों को स्वार्जित संपत्तियां न कि अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियां माना गया था । उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए इन कारणों को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि चूंकि वादगत संपत्तियों के संबंध में बोरवैल के उधार, फसल उधार, इलैक्ट्रिक मोटर पम्प सैट उधार, आभूषण उधार अविभक्त कुटुम्ब के सभी तीन सदस्यों, अर्थात् सेनगोडा गौंडर, रामास्वामी और सुब्रमण्यन् द्वारा लिए गए थे इसलिए वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाया भी गया था । चूंकि ये सभी तीनों एक साथ निवास कर रहे थे और हो सकता है कि कुछ उधार एक साथ रहने वाले कौटुम्बिक सदस्यों द्वारा लिए गए हों, किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाया गया था । संपत्तियों को मिलाने के पहलू के संबंध में विधि सुस्थापित है कि किसी अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब की पृथक् और स्वार्जित संपत्ति को तब अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों का स्वरूप प्रदान किया जा सकता है यदि वह संपत्ति उसके स्वामी द्वारा उस संपत्ति में अपने पृथक् दावे का परित्याग करने के आशय से स्वेच्छया सामान्य संपत्ति में मिला ली गई हो; किन्तु ऐसा परित्याग स्थापित करने के लिए पृथक् अधिकारों का अधित्यजन करने का स्पष्ट आशय अवश्य ही स्थापित किया जाना चाहिए । संपत्ति में पृथक् अधिकारों का परित्याग करने का स्पष्ट आशय अवश्य ही साबित किया जाना चाहिए । कुटुम्ब के अन्य सदस्यों को संपत्ति का उपयोग करने या उदारतापूर्वक पृथक् संपत्ति की आय का उपयोग करने के लिए अनुज्ञात करने मात्र से परित्याग का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है । इस प्रक्रम पर, यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस संबंध में गंभीर विवाद था कि उधार का प्रतिदाय किसने किया था । वादी ने इस बात का दावा किया था कि केवल उसने उधार का प्रतिदाय किया था, तथापि, प्रतिवादी सुब्रमण्यन् ने यह दलील दी कि उधार का उन्मोचन सेनगोडा गौंडर को वादगत संपत्तियों से व्युत्पन्न आय में से ही उसके द्वारा किया गया था ।

किसी भी दशा में, जब दोनों निचले न्यायालयों ने अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य का, जिसके अंतर्गत ऐसा दस्तावेज़ी साक्ष्य भी है जिसका उच्च न्यायालय द्वारा पुनर्मूल्यांकन किया गया था, मूल्यांकन करने पर यह निष्कर्ष निकाला हो कि वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में नहीं मिलाया गया था तब उच्च न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए उन निष्कर्षों को उलटना, जो अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के मूल्यांकन के आधार पर निकाले गए थे, न्यायोचित नहीं है । (पैरा 9)

इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों के अनुसार, उच्च न्यायालय से सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील का विनिश्चय करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करना और अपना निष्कर्ष निकालना अपेक्षित नहीं है और उच्च न्यायालय दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को तब अपास्त नहीं कर सकता जब दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष साक्ष्य के मूल्यांकन के आधार पर निकाले गए हों । प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपीलों को विनिश्चित करते समय यही किया है, जो कि विधि के अधीन अनुज्ञेय नहीं है । यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों के अनुसार और जैसा कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन उपबंधित है, द्वितीय अपील केवल विधि के सारवान् प्रश्न पर ही संधार्य होगी । विधि के तथ्य संबंधी प्रश्नों के आधार पर द्वितीय अपील नहीं की जा सकती है । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए विधि के किसी सारवान् प्रश्न का विद्यमान होना अनिवार्य है । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश पारित करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का इस प्रकार पुनर्मूल्यांकन किया है मानो उच्च न्यायालय प्रथम अपील का विनिश्चय कर रहा था । उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय और अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करके आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा, वादगत संपत्तियों को अविभक्त

कौटुंबिक संपत्तियों में मिलाकर दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त कर दिया है । यह पूर्णतः अननुज्ञेय है । जहां तक तथ्यों का संबंध है, प्रथम अपील न्यायालय अंतिम न्यायालय होता है और जब तक निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्ष प्रत्यक्षतः अनुचित और/या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल नहीं पाए जाते हैं तब तक उच्च न्यायालय का निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्यों संबंधी उन निष्कर्षों को अपास्त करना न्यायोचित नहीं होगा जो अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के मूल्यांकन पर आधारित हों । उच्च न्यायालय के लिए अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करना और अपना निष्कर्ष निकालना तब अनुज्ञेय नहीं है जब निचले न्यायालयों, विशेष रूप से प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष साक्ष्य के मूल्यांकन पर आधारित हों । अतः, उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपीलों का विनिश्चय करते समय अपनाई गई प्रक्रिया सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन उसकी शक्तियों का प्रयोग करने की व्याप्ति और परिधि से परे है । (पैरा 8)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2000]	(2000) 1 एस. सी. सी. 434 : **ईश्वर दास जैन** बनाम **सोहन लाल** ;	6,8
[1999]	(1999) 3 एस. सी. सी. 722 : **कोंडिबा दगादु कदम** बनाम **सावित्रीबाई सोपान गूजर** ;	6,8
[1997]	(1997) 4 एस. सी. सी. 713 : **पंचुगोपाल बरुआ** बनाम **उमेश चन्द्र गोस्वामी** ।	6

सिविल अपीली अधिकारिता : 2019 की सिविल अपील सं. 4536-4537.

2009 की द्वितीय अपील सं. 4 और 5 में मद्रास उच्च न्यायालय के तारीख 14 जून, 2013 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलें ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सिद्धार्थ नायडू और वी. बालचन्द्रन

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री वी. प्रभाकर, सुश्री ज्योति पराशर, एन. जे. रामचन्दर और प्रमीत सक्सेना

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एम. आर. शाह ने दिया ।

न्या. शाह – दोनों विशेष इजाजत याचिकाओं में इजाजत दी जाती है ।

2. चूंकि इन दोनों अपीलों में विधि और तथ्य संबंधी एकसमान प्रश्न उद्भूत होता है और इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा पारित एक ही आक्षेपित निर्णय और आदेश से उद्भूत हुआ है इसलिए इन दोनों अपीलों का विनिश्चय और निपटारा इस एक ही निर्णय और आदेश द्वारा एक-साथ किया जा रहा है ।

3. मूल प्रतिवादी ने, 2009 की द्वितीय अपील सं. 4 और 5 में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा पारित उस आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट महसूस करते हुए, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए उक्त द्वितीय अपीलें मंजूर कर ली हैं और विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा वादों को खारिज करते हुए पारित किए गए निर्णय और डिक्री को अभिखंडित और अपास्त कर दिया है और परिणामस्वरूप इस मामले में प्रत्यर्थी-मूल वादी द्वारा फाइल किए गए वादों को डिक्री कर दिया था, प्रस्तुत अपीलें फाइल की हैं ।

4. प्रस्तुत अपीलों से संबंधित तथ्य संक्षेप में निम्नलिखित रूप में हैं :–

यह कि मूल वादी (इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 1) - एस. रामास्वामी ने वादपत्र की अनुसूची में वर्णित स्थावर संपत्तियों की बाबत प्रतिवादी सं. 2 (इस मामले में अपीलार्थी) को वादगत संपत्तियों में वादी के एक-तिहाई सामान्य अंश की बाबत वादी और मूल प्रतिवादी सं. 2 के बीच स्थायी व्यादेश की डिक्री द्वारा माप और सीमांकन करके अंतिम

विभाजन होने तक अन्यसंक्रामण या विल्लंगम करने या किसी किस्म की दस्तावेज़ का सृजन करने से अवरुद्ध करने के लिए आरंभ में 2006 का मूल वाद सं. 10 फाइल किया था । यह कि उक्त वाद मूल वादी द्वारा अपने पिता सेनगोडा गौंडर (मृत) तथा अपने छोटे भाई सुब्रमण्यन् के विरुद्ध फाइल किया गया था । यह कि उक्त वाद के लंबित रहने के दौरान इसी वादी-रामास्वामी ने अपने छोटे भाई सुब्रमण्यन् और अपने पिता सेनगोडा गौंडर के विरुद्ध वादगत संपत्तियों के विभाजन के लिए 2005 का मूल वाद सं. 19 फाइल किया । मूल वादी का यह पक्षकथन था कि वादी और उसका पिता तथा उसका छोटा भाई एक हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब गठित करते थे जिसके स्वामित्व में पैतृक संपत्तियां थीं । वादी की ओर से इसके अलावा यह पक्षकथन किया गया कि वादी के पिता, अर्थात् सेनगोडा गौंडर ने तारीख 7 अप्रैल, 1956 का प्रदर्श ए1-व्यवस्थापन विलेख कुमारस्वामी गौंडर नामक व्यक्ति द्वारा सेनगोडा गौंडर के पक्ष में निष्पादित कराया । वादी की ओर से यह कथन किया गया था कि उस समय से पैतृक संपत्तियों सहित वादगत संपत्तियों को भी अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियां माना गया था और सभी तीनों सहदायिक उनका मिलकर उपभोग कर रहे थे । यह अभिकथन किया गया था कि चूंकि वादी का पिता और उसका छोटा भाई, एक-दूसरे से दुरभिसंधि करके वादगत संपत्ति का अन्यसंक्रामण करने का प्रयत्न कर रहे थे इसलिए प्रथम व्यादेश वाद (2005 का मूल वाद सं. 19) फाइल किया गया था ।

4.1 इस वाद का मूल प्रतिवादी-वादी रामास्वामी के छोटे भाई द्वारा विरोध किया गया था । मूल प्रतिवादी की ओर से यह पक्षकथन किया गया था कि सेनगोडा गौंडर और उसके दो पुत्रों, अर्थात्, रामास्वामी और सुब्रमण्यन् के बीच कभी भी कोई अविभक्त कुटुम्ब विद्यमान नहीं था । यह कि वादगत संपत्तियां सेनगोडा गौंडर द्वारा वर्ष 1956 के दौरान प्रदर्श ए1-व्यवस्थापन विलेख के अनुसार उसकी स्वार्जित संपत्तियों के रूप में अभिप्राप्त की गई थीं । यह कि सेनगोडा गौंडर के पुत्रों, अर्थात् रामास्वामी और सुब्रमण्यन् का वादगत संपत्तियों से कोई संबंध नहीं था और उनका उसमें कोई सांपत्तिक अधिकार या अंश नहीं था और यह कि

उन्हें कभी भी अविभक्त कुटुम्ब संपत्तियां नहीं माना गया था । प्रतिवादी की ओर से विनिर्दिष्ट पक्षकथन यह किया गया था कि वास्तव में सेनगोडा गौंडर ने अपने जीवनकाल के दौरान सुब्रमण्यन् के पक्ष में दो व्यवस्थापन विलेख, प्रदर्श ए13 और ए14 निष्पादित किए थे और इसके पश्चात् उसने सुब्रमण्यन् के पक्ष में तारीख 8 नवम्बर, 2004 की वसीयत, प्रदर्श बी24 भी निष्पादित की । प्रतिवादी की ओर से यह पक्षकथन किया गया था कि इस प्रकार सुब्रमण्यन्-प्रतिवादी वादगत संपत्तियों का आत्यंतिक स्वामी बना । प्रतिवादी की ओर से यह भी दलील दी गई थी कि द्वितीय वाद सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 द्वारा वर्जित भी है । प्रतिवादी की ओर से यह कथन किया गया था कि वादी ने व्यादेश वाद (प्रथम वाद) फाइल किए जाने से पूर्व विभाजन की ईप्सा करते हुए सूचना जारी की और इसके बावजूद उसने आरंभ में केवल व्यादेश वाद फाइल किया और इसके पश्चात्, बिना किसी तुक या कारण के और व्यादेश वाद फाइल करते समय न्यायालय से बाद में विभाजन वाद फाइल करने की अनुज्ञा अभिप्राप्त किए बिना उसने केवल द्वितीय वाद फाइल कर दिया, जो कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 द्वारा वर्जित था ।

4.2 यह कि विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । दोनों वादों का संयुक्त रूप से विचारण किया गया । वादी-रामास्वामी ने अभि. सा. 2 से अभि. सा. 4 के साथ-साथ अभि. सा. 1 के रूप में स्वयं की भी परीक्षा की और प्रदर्श ए1 से ए46 अभिलेख पर लाए गए थे । सुब्रमण्यन्-प्रतिवादी ने प्रति. सा. 2 से प्रति. सा. 4 के साथ-साथ प्रति. सा. 1 के रूप में स्वयं की भी परीक्षा की और प्रदर्श बी1 से बी31 अभिलेख पर लाए गए । यह कि इसके पश्चात् विद्वान् विचारण न्यायालय ने साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् दोनों वाद खारिज कर दिए । असफल वादी द्वारा फाइल की गई अपीलें विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गईं ।

4.3 प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित उस सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट महसूस करते हुए, जिसके द्वारा अपीलें खारिज कर दी गई थीं और विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा वादों को

खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को पुष्ट कर दिया गया था, मूल वादी ने उच्च न्यायालय के समक्ष दो द्वितीय अपीलें फाइल कीं । उच्च न्यायालय ने विधि के निम्नलिखित प्रश्न, विधि के सारवान् प्रश्नों के रूप में बनाए और विरचित किए :-

> "(1) क्या दोनों निचले न्यायालयों का यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित था कि सेनगोडा गौंडर द्वारा दर्शाई गई उदारता को वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों के साथ मिलाने का कार्य नहीं समझा जाना चाहिए और क्या निचले न्यायालयों का प्रदर्श ए1 में पाई गई संपत्तियों को "पिधीराज्यम" (पैतृक संपत्ति) के रूप में वर्णित करने संबंधी तथ्य तथा प्रदर्श ए19, 24, 45 और 46 को अनदेखा करना और यह अभिनिर्धारित करते हुए कि मानो वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुंबिक संपत्तियों में नहीं मिलाया गया था या ऐसा नहीं माना गया था, मुकदमे का विनिश्चय करना न्यायोचित था ?
>
> (2) क्या निचले न्यायालयों द्वारा प्रदर्श ए13 और ए14-व्यवस्थापन विलेखों और प्रदर्श बी24-वसीयत को विधिमान्य ठहराना न्यायोचित था हालांकि, वादी के अनुसार उन दस्तावेज़ों को प्रतिपादित करने वाले व्यक्तियों द्वारा उन दस्तावेज़ों को विधि के अनुसार अभिकथित रूप से साबित नहीं किया गया था ?
>
> (3) क्या निचले न्यायालयों द्वारा लिखित कथन में उस संबंध में अभिवाक् किए जाने के बावजूद सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 के प्रति निर्देश किए बिना निर्णय देना न्यायोचित था ?
>
> (4) क्या दोनों निचले न्यायालयों के निर्णय में कोई प्रतिकूलता या अवैधता है ?"

यह कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा और अभिलेख पर विद्यमान संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करने के पश्चात् विधि के उपर्युक्त प्रश्नों/विधि के सारवान् प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित रूप में दिया :-

> "विधि के सारवान् प्रश्न सं. (1) को इस आशय से विनिश्चित

किया जाता है कि दोनों निचले न्यायालयों का यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित नहीं था कि सेनगोडा गौंडर द्वारा दर्शाई गई उदारता को वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों में मिलाने के कार्य के रूप में नहीं माना जाना चाहिए और निचले न्यायालयों का प्रदर्श ए1 में पाई गई संपत्तियों को "पिधीराज्यम" के रूप में वर्णित करने संबंधी तथ्य और यह अभिनिर्धारित करते हुए मुकदमे का विनिश्चय करने में प्रदर्श ए19, 24, 45 और 46 को भी अनदेखा करना न्यायोचित नहीं था मानो वादगत संपत्ति को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्ति में नहीं मिलाया गया था या उन्हें उस रूप में नहीं माना गया था ।

विधि के सारवान् प्रश्न सं. (2) का विनिश्चय इस आशय से किया जाता है कि निचले न्यायालयों का प्रदर्श ए13 और ए14-व्यवस्थापन विलेखों और प्रदर्श ए24-वसीयत के निष्पादन को कायम रखना न्यायोचित था तथापि, मेरे उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए सेनगोडा गौंडर संपूर्ण वादगत संपत्ति को स्वार्जित संपत्ति मानकर व्यवस्थापन विलेख निष्पादित करने के लिए सक्षम नहीं था किन्तु उसके केवल एक-तिहाई शेयर के बारे में यह समझा जा सकता था कि उसने शेष दो सहदायिकों, अर्थात् अपने पुत्रों के पक्ष में उसका परित्याग कर दिया था । इस कारण वादगत संपत्ति को दो अंशों में विभाजित किया जाएगा । वादी और प्रतिवादी प्रत्येक वादगत संपत्ति के आधे अंश का हकदार होगा ।

विधि के सारवान् प्रश्न सं. (3) का विनिश्चय इस आशय से किया जाता है कि निचले न्यायालयों का, मेरे उपर्युक्त निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए कि विभाजन की ईप्सा करने संबंधी वाद हेतुक एक सतत् प्रक्रिया है, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 के प्रति निर्देश किए बिना निर्णय देना न्यायोचित था ।"

परिणामस्वरूप, उच्च न्यायालय ने दोनों अपीलें मंजूर कर लीं और विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय के सामान्य निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया और विभाजन की प्रारंभिक डिक्री तैयार करने

का निदेश दिया है, जिसमें वादी और प्रतिवादी, प्रत्येक को आधा अंश आबंटित किया जाए ।

4.4 मूल प्रतिवादियों ने उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट महसूस करते हुए, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय अभिलेख पर विद्यमान संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया है और दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त कर दिया था, प्रस्तुत अपीलें फाइल की हैं ।

5. अपीलार्थी-मूल प्रतिवादी की ओर से विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू उपस्थित हुए और प्रत्यर्थी सं. 1-मूल वादी की ओर से विद्वान् अधिवक्ता श्री वी. प्रभाकर उपस्थित हुए ।

6. मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू ने बलपूर्वक यह दलील दी है कि मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों को देखते हुए, उच्च न्यायालय ने अपीलों को मंजूर करके और निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों में हस्तक्षेप करके प्रत्यक्षतः गंभीर त्रुटि कारित की है ।

6.1 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू ने बलपूर्वक यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश पारित करके सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए अपनी अधिकारिता से परे कार्य किया है ।

6.2 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू ने इसके अतिरिक्त यह दलील दी है कि जैसा कि इस न्यायालय द्वारा अनेक विनिश्चयों में अभिनिर्धारित किया गया है और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अनुसार भी, उच्च न्यायालय के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय अभिलेख पर उपलब्ध संपूर्ण साक्ष्य का इस प्रकार पुनर्मूल्यांकन करना अपेक्षित नहीं है मानो उच्च

न्यायालय प्रथम अपील का विनिश्चय कर रहा है ।

6.3 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू द्वारा यह भी दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय द्वारा विरचित विधि के सारवान् प्रश्नों को विधि के सारवान् प्रश्न बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता है । यह निवेदन किया गया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 में केवल विधि के सारवान् प्रश्नों पर ही द्वितीय अपील का उपबंध है । यह दलील दी गई है कि केवल विधि के प्रश्न के आधार पर ही द्वितीय अपील को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है । यह निवेदन किया गया है कि विधि का प्रश्न विधि का सारवान् प्रश्न न कि मात्र विधि का प्रश्न होना चाहिए । यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपीलों का विनिश्चय करते समय बनाए गए और विरचित विधि के सारवान् प्रश्नों को बिल्कुल भी विधि के सारवान् प्रश्न नहीं कहा जा सकता है । यह दलील दी गई है कि प्रत्यक्षतः, उच्च न्यायालय द्वारा बनाए गए और विरचित विधि के सारवान् प्रश्न तथ्य संबंधी प्रश्न हैं । अतः, यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपीलों को मंजूर करके गंभीर त्रुटि कारित की है ।

6.4 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू द्वारा यह भी दलील दी गई है कि अन्यथा भी उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश को कायम नहीं रखा जा सकता है चूंकि उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया है, जो कि पूर्णतः अननुज्ञेय है । यह दलील दी गई है कि जहां तक तथ्य संबंधी प्रश्न का संबंध है, प्रथम अपील न्यायालय तथ्यों के संबंध में अंतिम न्यायालय है । यह दलील दी गई है कि जब तक अभिलिखित निष्कर्षों को अनुचित और/या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल नहीं पाया जाता है तब तक उच्च न्यायालय का निचले न्यायालयों, विशेषकर प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित ऐसे निष्कर्षों को उलटना न्यायोचित नहीं था । यह दलील दी गई है कि प्रस्तुत मामले में, यदि हम उच्च

न्यायालय द्वारा पारित संपूर्ण निर्णय और आदेश का अवलोकन करें तो उच्च न्यायालय ने अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया है और अपना निर्णय और अपने निष्कर्ष निकाले हैं और इसके पश्चात् दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी उन निष्कर्षों में हस्तक्षेप किया है जो कि साक्ष्य के मूल्यांकन पर आधारित थे, जो कि पूर्णतः अननुज्ञेय है । अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने अपनी उपर्युक्त दलीलों के समर्थन में और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील का विनिश्चय करते समय उच्च न्यायालय की अधिकारिता की परिधि और व्याप्ति के संबंध में **पंचुगोपाल बरुआ** बनाम **उमेश चन्द्र गोस्वामी**[1], **कोंडिबा दगादु कदम** बनाम **सावित्रीबाई सोपान गूजर**[2] और **ईश्वर दास जैन** बनाम **सोहन लाल**[3] वाले मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चयों का जोरदार अवलंब लिया है ।

6.5 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू ने आगे यह दलील दी है कि अन्यथा भी उन आधारों को भी कायम नहीं रखा जा सकता है जिनके आधार पर उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों के साथ मिलाया गया था ।

6.6 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू ने आगे यह दलील दी कि स्वीकृततः और उच्च न्यायालय के अनुसार भी, वादगत संपत्तियां सेनगोडा गौंडर (पिता) की स्वार्जित संपत्तियां थीं क्योंकि वे संपत्तियां उसके द्वारा अपने सीधे पुरुष पूर्वजों से नहीं बल्कि अपनी माता की बहिन के पति से अभिप्राप्त की गई थीं । यह दलील दी गई है कि इसलिए, मात्र इस कारण कि सेनगोडा गौंडर और उसके दो पुत्र एक साथ निवास कर रहे थे और हो सकता है कि उन सभी ने उस भूमि के संबंध में कुछ उधार लिया हो तो

---

[1] (1997) 4 एस. सी. सी. 713.

[2] (1999) 3 एस. सी. सी. 722.

[3] (2000) 1 एस. सी. सी. 434.

भी यह नहीं कहा जा सकता है कि सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों के साथ मिलाया गया था । यह दलील दी गई है कि प्रतिवादी की ओर से विनिर्दिष्ट रूप से यह पक्षकथन किया गया था कि सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्ति में से ही उसके द्वारा व्युत्पन्न आय में से उधार का प्रतिदाय/उन्मोचन किया गया था ।

6.7 मूल प्रतिवादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री सिद्धार्थ नायडू ने आगे यह दलील दी कि यह तथ्य कि पिता-सेनगोडा गौंडर ने अपने जीवनकाल के दौरान दो व्यवस्थापन विलेख, प्रदर्श ए13 और ए14 निष्पादित किए और उसके बाद उसने तारीख 8 नवम्बर, 2004 की वसीयत, प्रदर्श बी24 निष्पादित की जो कि इस तथ्य का द्योतक है कि पिता-सेनगोडा का वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाने का कोई आशय नहीं था । यह दलील दी गई कि इसलिए उच्च न्यायालय ने विनिर्दिष्ट रूप से यह मताभिव्यक्ति की और अभिनिर्धारित किया कि निचले न्यायालयों का प्रदर्श ए13 और ए14-व्यवस्थापन विलेख तथा प्रदर्श बी24-वसीयत के निष्पादन को कायम रखना न्यायोचित था । तथापि, यह दलील दी गई है कि इसके पश्चात् उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके गलती की है कि सेनगोडा गौंडर संपूर्ण वादगत संपत्ति को स्वार्जित संपत्ति मानकर व्यवस्थापन विलेख निष्पादित करने के लिए सक्षम नहीं था किन्तु उसके केवल एक-तिहाई शेयर के बारे में यह समझा जा सकता था कि उसने शेष दो सहदायिकों, अर्थात् अपने पुत्रों के पक्ष में उसका परित्याग कर दिया था ।

6.8 उपर्युक्त दलीलें देते हुए और इस न्यायालय के उपर्युक्त विनिश्चयों का अवलंब लेते हुए यह प्रार्थना की गई कि प्रस्तुत अपीलों को मंजूर कर लिया जाए और उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश को अभिखंडित और अपास्त कर दिया जाए और परिणामस्वरूप निचले न्यायालयों द्वारा वादों को खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को प्रत्यावर्तित कर दिया जाए ।

7. मूल वादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री वी. प्रभाकर ने प्रस्तुत अपीलों का विरोध करते समय बलपूर्वक यह

दलील दी कि उच्च न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपीलों का विनिश्चय करते समय अपनी परिसीमाओं से सचेत था । तथापि, यह दलील दी गई थी कि चूंकि उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि दोनों निचले न्यायालयों ने अभिलेख पर मौजूद सुसंगत सामग्री और साक्ष्य का, विशेष रूप से प्रदर्श ए1 तथा प्रदर्श ए19, 24, 45 और 46 का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं किया है, इसके पश्चात् उच्च न्यायालय ने ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों/पैतृक संपत्तियों के साथ नहीं मिलाया गया था ।

7.1 मूल वादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री वी. प्रभाकर ने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते समय अकाट्य कारण दिए गए हैं कि सेनगोडा गौंडर द्वारा दर्शाई गई उदारता को वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों/ अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाने के कारण के रूप में माना जाना चाहिए ।

7.2 मूल वादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री वी. प्रभाकर द्वारा आगे यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने तारीख 5 फरवरी, 1975 के विक्रय विलेख-प्रदर्श ए10 और तारीख 25 मार्च, 1977 के विक्रय विलेख-प्रदर्श ए2 पर विचार करने के पश्चात्, जिनके द्वारा तारीख 7 अप्रैल, 1956 के व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए1 में विनिर्दिष्ट कुछ संपत्तियों को पैतृक संपत्तियां मानते हुए उनका विक्रय किया गया था, ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि उसके पश्चात् सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों में मिलाया गया था और प्रदर्श ए1 तारीख 7 अप्रैल, 1956 के व्यवस्थापन विलेख में विनिर्दिष्ट समस्त संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियां माना गया था । यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने इसके पश्चात् और इस प्रकार निष्कर्ष निकालने पर ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि जब एक बार सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों में मिला दिया गया था, तब इसके पश्चात् वे संपत्तियां उसके लिए खुली नहीं थीं और/या सेनगोडा गौंडर के पास वादगत संपत्तियों को

समग्र रूप से स्वार्जित संपत्तियां मानकर व्यवस्थापन विलेखों और/या वसीयत को निष्पादित करने की सक्षमता नहीं थी ।

7.3 अब, जहां तक अपीलार्थियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा किए गए इन निवेदनों का संबंध है कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश पारित करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया है, मूल वादी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री वी. प्रभाकर द्वारा यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय, विधि के सारवान् प्रश्नों पर विचार करते समय और/या उन्हें विनिश्चित करते समय अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य पर विचार करने और/या उसका मूल्यांकन करने और इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बाध्य है कि निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष अनुचित या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल हैं । अतः, यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए द्वितीय अपीलों का विनिश्चय करते समय साक्ष्य का मूल्यांकन किया जाना अनुज्ञेय है ।

7.4 उपर्युक्त निवेदन करते हुए यह प्रार्थना की गई है कि प्रस्तुत अपीलों को खारिज कर दिया जाए ।

8. संबंधित पक्षकारों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेलों की विस्तारपूर्वक सुनवाई की गई ।

8.1 प्रारंभ में, यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस प्रकार विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय, दोनों ने वादों को विशेष रूप से मूल वादी द्वारा फाइल किए गए विभाजन संबंधी वाद को यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिया कि वादगत संपत्तियां सेनगोडा गौंडर की पैतृक संपत्तियां नहीं थीं बल्कि वे सेनगोडा गौंडर की स्वार्जित संपत्तियां थीं । दोनों निचले न्यायालयों ने, साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् विनिर्दिष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला कि इस प्रकार सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को पैतृक संपत्तियों में नहीं मिलाया गया था । तथापि, दोनों निचले न्यायालयों द्वारा

अभिलिखित उक्त निष्कर्षों को उच्च न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए द्वितीय अपीलों का विनिश्चय करते समय उलट दिया गया और अपास्त कर दिया गया । हमने विद्वान् विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों का परिशीलन किया है और उन पर विचार किया है । अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का, विशेष रूप से उस दस्तावेज़ी साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात्, जिस पर उच्च न्यायालय द्वारा प्रदर्श ए1 और प्रदर्श ए19, 24, 45 और 46 के रूप में विचार किया गया था, दोनों निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वादगत संपत्ति को अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति के रूप में नहीं मिलाया गया था या उसे ऐसा नहीं माना गया था । उपर्युक्त के बावजूद, उच्च न्यायालय ने आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश पारित करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया है, जिसके अंतर्गत वह दस्तावेज़ी साक्ष्य भी है जिस पर दोनों निचले न्यायालयों द्वारा भी विचार किया गया था और उसने वादगत संपत्ति को अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति के रूप में मिलाने के संबंध में दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को उलट दिया है और अपने निष्कर्ष निकाले हैं, जो कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए पूर्णतः अननुज्ञेय है । इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों के अनुसार, उच्च न्यायालय से सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन द्वितीय अपील का विनिश्चय करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करना और अपना निष्कर्ष निकालना अपेक्षित नहीं है और उच्च न्यायालय दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को तब अपास्त नहीं कर सकता जब दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष साक्ष्य के मूल्यांकन के आधार पर निकाले गए हों । प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपीलों को विनिश्चित करते समय यही किया है, जो कि विधि के अधीन अनुज्ञेय नहीं है ।

8.2 अन्यथा भी, यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस न्यायालय

के अनेक विनिश्चयों के अनुसार और जैसा कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन उपबंधित है, द्वितीय अपील केवल विधि के सारवान् प्रश्न पर ही संधार्य होगी । विधि के तथ्य संबंधी प्रश्नों के आधार पर द्वितीय अपील नहीं की जा सकती है । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए विधि के किसी सारवान् प्रश्न का विद्यमान होना अनिवार्य है । जैसा कि **कोंडिबा दगादु कदम** (उपर्युक्त) वाले मामले में मताभिव्यक्ति की गई है और अभिनिर्धारित किया गया है, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन किसी द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय तब तक प्रथम अपील न्यायालय की राय पर अपनी राय प्रतिस्थापित नहीं कर सकता जब तक कि वह यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेता कि निचले न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष इसलिए त्रुटिपूर्ण थे क्योंकि वे :–

(i) लागू विधि के आज्ञापक उपबंधों के प्रतिकूल थे ;

या

(ii) उच्चतम न्यायालय द्वारा यथा-उद्घोषित विधि के प्रतिकूल थे ;

या

(iii) अननुज्ञेय साक्ष्य या कोई-साक्ष्य-नहीं पर आधारित थे ।

इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त विनिश्चय में, इसके अलावा यह मत व्यक्त किया गया है कि यदि प्रथम अपील न्यायालय ने अपने विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायिक रीति में किया है तो उसके विनिश्चय के बारे में यह अभिलिखित नहीं किया जा सकता है कि वह या तो विधि की दृष्टि से या द्वितीय अपील में हस्तक्षेप करने की अपेक्षा करने वाली प्रक्रिया संबंधी त्रुटि से ग्रस्त है । इसके अलावा, यह मत व्यक्त किया गया है कि यह कोई ऐसा विधि का प्रश्न नहीं है जिससे द्वितीय अपील में हस्तक्षेप करना न्यायोचित हो कि विचारण न्यायालय इससे भिन्न रूप में विनिश्चित कर सकता था ।

8.3 इस संबंध में **ईश्वर दास जैन** (उपर्युक्त) वाले मामले में कार्यवाही की गई है और विचार किया गया है कि कब यह कहा जा सकता है कि विधि का कोई सारवान् प्रश्न उद्भूत हुआ है । उपर्युक्त

विनिश्चय में, इस न्यायालय ने विनिर्दिष्ट रूप से इस प्रकार मत व्यक्त किया है और अभिनिर्धारित किया है :-

> "सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन, 1976 के संशोधन के पश्चात्, उच्च न्यायालय के लिए विधि का सारवान् प्रश्न बनाना आवश्यक है और ऐसा किए बिना प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय को उलटना अनुज्ञेय नहीं है । ऐसी दो स्थितियां हैं, जिनमें तथ्य संबंधी निष्कर्षों में हस्तक्षेप अनुज्ञेय है । पहली स्थिति वह है जब ऐसे तात्विक या सुसंगत साक्ष्य पर विचार नहीं किया जाता है, जिस पर यदि विचार किया गया होता तो इसके विपरीत निष्कर्ष निकलता । दूसरी स्थिति, जिसमें तथ्य संबंधी निष्कर्षों में हस्तक्षेप करना अनुज्ञेय है, वह है जहां अपील न्यायालय द्वारा ऐसे अग्राह्य साक्ष्य का अवलंब लेकर निष्कर्ष निकाला गया है जिसका यदि लोप कर दिया गया होता तो विपरीत निष्कर्ष संभव था । उपर्युक्त किसी भी स्थिति में, विधि का सारवान् प्रश्न उद्भूत हो सकता है ।"

8.4 इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त विनिश्चयों में अधिकथित विधि को विधि के प्रश्नों पर लागू करते हुए, जिन्हें उच्च न्यायालय द्वारा बनाया/विरचित किया गया है और जिनका उत्तर दिया गया है, जो कि इसमें इसके ऊपर उद्धृत किए गए हैं, यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त विधि के प्रश्नों को विधि के सारवान् प्रश्न नहीं कहा जा सकता है । इन्हें केवल विधि के प्रश्न या तथ्य संबंधी प्रश्न कहा जा सकता है और विधि के सारवान् प्रश्न नहीं कहा जा सकता है ।

8.5 जैसा कि इसमें उसके ऊपर मत व्यक्त किया गया है, उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश पारित करते समय अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का इस प्रकार पुनर्मूल्यांकन किया है मानो उच्च न्यायालय प्रथम अपील का विनिश्चय कर रहा था । उच्च न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय और अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करके आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा, वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुंबिक संपत्तियों में मिलाकर दोनों निचले

न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों को अपास्त कर दिया है । यह पूर्णतः अननुज्ञेय है । जहां तक तथ्यों का संबंध है, प्रथम अपील न्यायालय अंतिम न्यायालय होता है और जब तक निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्ष प्रत्यक्षतः अनुचित और/या अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के प्रतिकूल नहीं पाए जाते हैं तब तक उच्च न्यायालय का निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्यों संबंधी उन निष्कर्षों को अपास्त करना न्यायोचित नहीं होगा जो अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के मूल्यांकन पर आधारित हों । उच्च न्यायालय के लिए अभिलेख पर मौजूद संपूर्ण साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करना और अपना निष्कर्ष निकालना तब अनुज्ञेय नहीं है जब निचले न्यायालयों, विशेष रूप से प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष साक्ष्य के मूल्यांकन पर आधारित हों । अतः, उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय अपीलों का विनिश्चय करते समय अपनाई गई प्रक्रिया सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन उसकी शक्तियों का प्रयोग करने की व्याप्ति और परिधि से परे है ।

9. अन्यथा भी, उच्च न्यायालय ने गुणागुण के आधार पर यह अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की है कि सेनगोडा गौंडर द्वारा वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाया गया था । यह एक स्वीकृत स्थिति है कि, जैसा कि उच्च न्यायालय द्वारा मत व्यक्त किया गया है और अभिनिर्धारित किया गया है कि वादगत संपत्तियां तारीख 7 अप्रैल, 1956 के व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए1 के अनुसरण में सेनगोडा गौंडर की स्वार्जित संपत्तियां थीं क्योंकि सेनगोडा गौंडर द्वारा वे संपत्तियां अपने सीधे पुरुष पूर्वजों से अभिप्राप्त नहीं की गई थीं बल्कि अपनी माता की बहिन के पति से अभिप्राप्त की गई थीं । उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि जब कुछ संपत्तियों का विक्रय किया गया था तब तारीख 7 अप्रैल, 1956 के व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए1 में विनिर्दिष्ट इनमें से कुछ संपत्तियों का विक्रय किया गया था और विवरण में यह उल्लेख किया गया था कि इन संपत्तियों का विक्रय कुटुम्ब के खर्चों और फार्म के व्ययों की अत्यावश्यक आवश्यकता को पूरा करने के लिए किया गया था और यह उल्लेख किया

गया था कि वे संपत्तियां उनके पूर्वजों के माध्यम से संयुक्त रूप से उनकी थीं । तथापि, दस्तावेज़ी साक्ष्य और विशेष रूप से व्यवस्थापन विलेख-प्रदर्श ए13, ए14 और स्वयं सेनगोडा गौंडर द्वारा निष्पादित वसीयत-प्रदर्श बी24, जिसके द्वारा वही संपत्तियां मूल प्रतिवादी-उसके पुत्र सुब्रमण्यन् को दी गई थीं, पर विचार करने पर पिता-सेनगोडा गौंडर का आशय अत्यंत स्पष्ट् था कि वादगत संपत्तियों को स्वार्जित संपत्तियां न कि अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियां माना गया था ।

9.1 उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए इन कारणों को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि चूंकि वादगत संपत्तियों के संबंध में बोरवैल के उधार, फसल उधार, इलैक्ट्रिक मोटर पम्प सैट उधार, आभूषण उधार अविभक्त कुटुम्ब के सभी तीन सदस्यों, अर्थात् सेनगोडा गौंडर, रामास्वामी और सुब्रमण्यन् द्वारा लिए गए थे इसलिए वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाया भी गया था । चूंकि ये सभी तीनों एक साथ निवास कर रहे थे और हो सकता है कि कुछ उधार एक साथ रहने वाले कौटुम्बिक सदस्यों द्वारा लिए गए हों, किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में मिलाया गया था । संपत्तियों को मिलाने के पहलू के संबंध में विधि सुस्थापित है कि किसी अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब की पृथक् और स्वार्जित संपत्ति को तब अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों का स्वरूप प्रदान किया जा सकता है यदि वह संपत्ति उसके स्वामी द्वारा उस संपत्ति में अपने पृथक् दावे का परित्याग करने के आशय से स्वेच्छया सामान्य संपत्ति में मिला ली गई हो; किन्तु ऐसा परित्याग स्थापित करने के लिए पृथक् अधिकारों का अधित्यजन करने का स्पष्ट आशय अवश्य ही स्थापित किया जाना चाहिए । संपत्ति में पृथक् अधिकारों का परित्याग करने का स्पष्ट आशय अवश्य ही साबित किया जाना चाहिए । कुटुम्ब के अन्य सदस्यों को संपत्ति का उपयोग करने या उदारतापूर्वक पृथक् संपत्ति की आय का उपयोग करने के लिए अनुज्ञात करने मात्र से परित्याग का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है । इस प्रक्रम पर, यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस संबंध में गंभीर विवाद था कि उधार का प्रतिदाय किसने किया

था । वादी ने इस बात का दावा किया था कि केवल उसने उधार का प्रतिदाय किया था, तथापि, प्रतिवादी सुब्रमण्यन् ने यह दलील दी कि उधार का उन्मोचन सेनगोडा गौंडर को वादगत संपत्तियों से व्युत्पन्न आय में से ही उसके द्वारा किया गया था । किसी भी दशा में, जब दोनों निचले न्यायालयों ने अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य का, जिसके अंतर्गत ऐसा दस्तावेज़ी साक्ष्य भी है जिसका उच्च न्यायालय द्वारा पुनर्मूल्यांकन किया गया था, मूल्यांकन करने पर यह निष्कर्ष निकाला हो कि वादगत संपत्तियों को अविभक्त कौटुम्बिक संपत्तियों में नहीं मिलाया गया था तब उच्च न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए उन निष्कर्षों को उलटना, जो अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य के मूल्यांकन के आधार पर निकाले गए थे, न्यायोचित नहीं है ।

10. उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए और ऊपर कथित कारणों के अनुसार, दोनों प्रस्तुत अपीलें मंजूर की जाती हैं । उच्च न्यायालय द्वारा 2009 की द्वितीय अपील सं. 4 और 5 में पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश अभिखंडित और अपास्त किया जाता है तथा विचारण न्यायालय द्वारा वादों को खारिज करते हुए पारित सामान्य निर्णय और डिक्री प्रत्यावर्तित की जाती है । तथापि, मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

ग्रो.

[2019] 4 उम. नि. प. 198

भीवचंद्र शंकर मोरे

बनाम

बालू गंगाराम मोरे और अन्य

[2019 की सिविल अपील सं. 4669]

7 मई, 2019

न्यायमूर्ति आर. बानुमती और न्यायमूर्ति आर. सुभाष रेड्डी

परिसीमा अधिनियम, 1963 (1963 का 36) – धारा 5 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 9, नियम 13, आदेश 43, नियम 1(घ) और धारा 96] – विलंब के लिए माफी – पर्याप्त हेतुक – संपत्ति के विभाजन के लिए वाद को एकपक्षीय डिक्री किया जाना – एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन खारिज होने पर अपील किया जाना – अपील लंबित रहते हुए उसे व्यपहृत किया जाना – धारा 96 के अधीन नियमित अपील और विलंब की माफी के लिए आवेदन फाइल किया जाना – आवेदन खारिज किया जाना – जहां मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल करने वाले पक्षकार पर घोर उपेक्षा, जानबूझकर निष्क्रियता बरतने या सद्भाविकता की कमी का लांछन न लगाया जा सकता हो, वहां न्यायालय कार्यवाहियों में व्यतीत हुए समय को "पर्याप्त हेतुक" मानते हुए विलंब के लिए माफी देना न्याय के हित में होगा ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) – आदेश 9, नियम 13 और धारा 96 – एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए आवेदन गुणागुण के आधार पर खारिज किया जाना – एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध धारा 96 के अधीन नियमित अपील फाइल किया जाना – वर्जन – संहिता के दोनों उपबंधों के अधीन जांच की परिधि पूर्णतया भिन्न है और प्रतिवादी को केवल इस कारण अपील के कानूनी अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है कि उसका आदेश 9 के नियम 13 के अधीन आवेदन खारिज हो गया था ।

अपील के तथ्यों के अनुसार, प्रत्यर्थी-वादी सं. 1 से 13 द्वारा वादांतर्गत संपत्ति के विभाजन और अलग कब्जे की ईप्सा करते हुए संयुक्त सिविल न्यायाधीश, कनिष्ठ खंड, ढांड के समक्ष विभाजन के लिए एक वाद फाइल किया गया था । उक्त वाद में प्रतिवादी सं. 2 के पुत्र को वाद का समन प्राप्त हुआ । अपीलार्थी-प्रतिवादी के अनुसार वे काम की तलाश में पड़ोस के गांव में थे और उसने उन्हें वाद के समन की तामीली के बारे में सूचित नहीं किया और इसलिए वे विभाजन के लिए वाद में उपसंजात नहीं हो सके । उक्त वाद एकपक्षीय डिक्री किया गया और विभाजन के लिए आरंभिक डिक्री पारित की गई थी । अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 ने एकपक्षीय डिक्री अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन एक आवेदन फाइल किया । विचारण न्यायालय द्वारा उक्त आवेदन खारिज कर दिया गया । विचारण न्यायालय ने यह पाया कि अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 उस समय उपसंजात न होने के लिए अलग-अलग कारण बता रहे हैं जब वाद सुनवाई के लिए पुकारा गया था । विचारण न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि यद्यपि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन में अनेक संशोधन किए गए थे, किन्तु केवल अंतिम संशोधन में प्रतिवादियों ने यह उल्लेख किया था कि वाद के लिए समन आवेदक सं. 2 के पुत्र को तामील किया गया था । विचारण न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि तानाजी एक वयस्क व्यक्ति था और उस पर तामील किए गए समन को प्रतिवादियों पर समन की प्रभावी तामीली समझा जाएगा । सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन की खारिजी से व्यथित होकर अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 ने तारीख 11 जून, 2013 को [2010 की सिविल अपील सं. 108] फाइल की और उसे तारीख 11 जून, 2013 को वापस ले लिया गया । अगले ही दिन अर्थात् 12 जून, 2013 को अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने 2007 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में पारित एकपक्षीय डिक्री को चुनौती देते हुए नियमित अपील फाइल की । उन्होंने उक्त अपील के साथ चार वर्ष, दस माह और आठ दिन के विलंब की माफी के लिए 2013 का सिविल प्रकीर्ण आवेदन सं. 56 भी फाइल किया । अपर

जिला न्यायाधीश, बारामती द्वारा तारीख 20 फरवरी, 2014 के आदेश द्वारा विलंब की माफी के लिए उक्त आवेदन को मंजूर किया गया । विलंब माफ करने और अपील ग्रहण करने के आदेश से व्यथित होकर प्रत्यर्थी सं. 1 से 8 ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2014 की रिट याचिका सं. 3290 फाइल की । उच्च न्यायालय ने तारीख 20 अगस्त, 2014 को आक्षेपित निर्णय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए रिट याचिका मंजूर की कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल आवेदन को गलत कार्यवाहियां नहीं कहा जा सकता है और इसलिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करके उपचार जारी रखने में व्यतीत हुए समय को परिसीमा की गणना के लिए अपवर्जित नहीं किया जा सकता है । अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) को संयुक्त रूप से पढ़ने पर यह उपदर्शित होता है कि प्रतिवादी, जिसने एकपक्षीय डिक्री सहन की है, के पास दो उपचार होते हैं – (i) या तो वह न्यायालय का यह समाधान करते हुए कि समन सम्यक् रूप से तामील नहीं किए गए थे या वे तामील तो हुए थे, किंतु जब वाद सुनवाई के लिए पुकारा गया था तब "पर्याप्त हेतुक" से वह न्यायालय में उपसंजात नहीं हो सका था, एकपक्षीय डिक्री अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करे ; (ii) या मूल डिक्री से प्रथम अपील न्यायालय में नियमित अपील फाइल करे और गुणागुण के आधार पर एकपक्षीय डिक्री को चुनौती दे । यह उल्लेखनीय है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 के नियम 13 और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) की व्याप्ति पूर्णत: भिन्न-भिन्न है । सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन में न्यायालय को यह देखना होता है कि क्या समन सम्यक् रूप से तामील किए गए थे या नहीं अथवा जब वाद सुनवाई के लिए पुकारा गया था क्या प्रतिवादी किसी "पर्याप्त हेतुक" से उपसंजात होने से निवारित रहा

था । यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि प्रतिवादी को समन सम्यक् रूप से तामील नहीं किया गया था वह "पर्याप्त हेतुक" से निवारित रहा था, तो न्यायालय एकपक्षीय डिक्री को अपास्त कर सकता है और वाद को इसकी मूल स्थिति में प्रत्यावर्तित कर सकता है । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के निबंधनों के अनुसार, एकपक्षीय पारित मूल डिक्री से अपील की जाएगी । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के अधीन फाइल नियत अपील में अपील न्यायालय को डिक्री के गुणागुणों पर विचार करने की व्यापक अधिकारिता है । केवल इस कारण कि प्रतिवादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार का आश्रय लिया था, वह इस बात के लिए अपील फाइल करने से प्रतिषिद्ध नहीं हो जाता है यदि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उसका आवेदन खारिज हो जाता है । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के अधीन अपील का अधिकार एक कानूनी अधिकार है और प्रतिवादी को अपील के कानूनी अधिकार से केवल इस आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता है कि उसके द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन को खारिज कर दिया गया था । उच्च न्यायालय की उपरोक्त इस मताभिव्यक्ति को कि "उपबंधित उपचार साथ-साथ हैं और इन्हें क्रमवार उपचारों के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है" कठोर रीति में और एक अनम्य सिद्धांत के रूप में लागू नहीं किया जा सकता है । इस पर प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर रहते हुए और क्या प्रतिवादी ने क्रमवार उपचार को आगे बढ़ाने में विलंबकारी युक्ति अपनाई है या नहीं, पर विचार किया जाना चाहिए । केवल उन मामलों में जहां प्रतिवादी ने विलंबकारी युक्ति अपनाई है या जहां दोनों उपचारों को क्रमवर्ती रूप में आगे बढ़ाने में सद्भावना की कमी है, न्यायालय प्रथम अपील फाइल करने में हुए विलंब की माफी देने से इनकार कर सकता है । यदि न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार को आगे बढ़ाने में व्यतीत हुए समय के कारण विलंब की माफी देने से इनकार करता है, तो प्रतिवादी डिक्री को गुणागुण के आधार पर चुनौती देते हुए अपील करने के कानूनी अधिकार से वंचित हो जाएगा । (पैरा 10, 11, 12 और 14)

प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थी सं. 1 से 13 ने वर्ष 2007 में विभाजन के लिए एक वाद फाइल किया, जो तारीख 4 जुलाई, 2008 को एकपक्षीय डिक्री किया गया था । अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल किया और उसे तारीख 6 अगस्त, 2010 को खारिज कर दिया गया । सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन की खारिजी से व्यथित होकर अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने तारीख 3 सितम्बर, 2010 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 43, नियम 1(घ) के अधीन एक अपील फाइल की । निस्संदेह, उक्त अपील लगभग तीन वर्ष से लंबित थी और उसे तारीख 1 जून, 2013 को वापस ले लिया गया । तत्पश्चात्, अगले दिन अर्थात् तारीख 12 जून, 2013 को अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने 2007 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में तारीख 4 जुलाई, 2008 को पारित एकपक्षीय डिक्री और निर्णय को चुनौती देते हुए एक अपील फाइल की । यह नहीं कहा जा सकता है कि अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 मामले को आगे बढ़ाने में घोर उपेक्षावान थे, इतना ही नहीं, जब डिक्री विभाजन के लिए वाद में पारित की गई थी । यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 97 के अनुसार जहां किसी प्रारंभिक डिक्री से व्यथित कोई पक्षकार ऐसी डिक्री की अपील नहीं करता है, वहां वह उसकी शुद्धता के बारे में अंतिम डिक्री के विरुद्ध की गई अपील में विवाद करने से प्रवारित रहेगा । उद्देश्य यह है कि प्रारंभिक डिक्री पारित करने के प्रक्रम पर न्यायालय द्वारा विनिश्चित किए गए प्रश्नों को अंतिम डिक्री के समय चुनौती नहीं दी जा सकती है । यदि प्रारंभिक डिक्री के विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की गई थी, प्रत्यर्थी-वादियों द्वारा फाइल किया गया वाद विभाजन के लिए वाद होने के कारण अपीलार्थी गुणागुण के आधार पर डिक्री को चुनौती देने के अवसर से वंचित हो जाएंगे । न्याय के हित में, अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल उनके आवेदन की खारिजी के होते हुए भी तारीख 4 जुलाई, 2008 की एकपक्षीय डिक्री को गुणागुण के आधार पर चुनौती देने का अवसर दिया जाना चाहिए । प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में, सिविल

प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन को आगे बढ़ाने में व्यतीत हुए समय को प्रथम अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करने के लिए "पर्याप्त हेतुक" के रूप में लिया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय कायम नहीं रखा जा सकता है और अपास्त किया जाना चाहिए । (पैरा 17, 18 और 19)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 12 एस. सी. सी. 693 : **बी. माधुरी गौड़** बनाम **बी. दामोदर रेड्डी** ;	6,15
[2005]	(2005) 1 एस. सी. सी. 787 : **भानू कुमार जैन** बनाम **अर्चना कुमार और एक अन्य** ;	12
[1998]	(1998) 7 एस. सी. सी. 123 : **एन. बालकृष्णन्** बनाम **एम. कृष्णामूर्ति** ;	16
[1937]	1937 वाल्यूम 40 बम्बई ला रिपोर्टर 957 : **जोतिबा लिंबाजी कंशेनवर** बनाम **रामप्पा जोतिबा कंशेनवर** ।	5,13

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2019 की सिविल अपील सं. 4669.

2014 की रिट याचिका सं. 3290 में बम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 20 अगस्त, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सुशील करंजकर और के. एन. राय

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री विनय नवारे, ज्येष्ठ अधिवक्ता, (सुश्री) जेन कार्तिक, (सुश्री) आभा आर. शर्मा और एम. वाई. देशमुख

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. बानुमती ने दिया ।

न्या. बानुमती – इजाजत दी गई ।

2. यह अपील 2014 की रिट याचिका सं. 3290 में बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 20 अगस्त, 2014 को पारित किए गए उस निर्णय से उद्भूत हुई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने 2007 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में तारीख 4 जुलाई, 2008 को पारित की गई एकपक्षीय डिक्री को चुनौती देते हुए प्रथम अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करने से इनकार कर दिया था ।

3. वे संक्षिप्त तथ्य, जिनके आधार पर यह अपील फाइल की गई है, निम्नलिखित हैं :–

प्रत्यर्थी-वादी सं. 1 से 13 ने वादांतर्गत संपत्ति के विभाजन और अलग कब्जे की ईप्सा करते हुए संयुक्त सिविल न्यायाधीश, कनिष्ठ खंड, ढांड के समक्ष विभाजन के लिए एक वाद 2007 का नियमित सिविल वाद सं. 35 फाइल किया । उक्त वाद में प्रतिवादी सं. 2 के पुत्र अर्थात् तानाजी को तारीख 25 फरवरी, 2007 को वाद का समन प्राप्त हुआ । अपीलार्थी-प्रतिवादी के अनुसार वे काम की तलाश में पड़ोस के गांव में थे और तानाजी ने उन्हें वाद के समन की तामीली के बारे में सूचित नहीं किया और इसलिए वे विभाजन के लिए वाद में उपसंजात नहीं हो सके । उक्त वाद एकपक्षीय डिक्री किया गया था और तारीख 4 जुलाई, 2008 को विभाजन के लिए आरंभिक डिक्री पारित की गई थी । अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 ने एकपक्षीय डिक्री अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन एक आवेदन फाइल किया । दोनों पक्षकारों की दलीलों पर विचार करने के पश्चात् विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 6 अगस्त, 2010 के आदेश द्वारा उक्त आवेदन खारिज कर दिया गया । विचारण न्यायालय ने यह पाया कि अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 उस समय उपसंजात न होने के लिए अलग-अलग कारण बता रहे हैं जब वाद सुनवाई के लिए पुकारा गया था । विचारण न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि यद्यपि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन में अनेक संशोधन किए गए थे, किन्तु केवल अंतिम संशोधन में प्रतिवादियों ने यह उल्लेख किया था कि वाद के लिए समन आवेदक सं. 2 के पुत्र अर्थात् तानाजी को तामील किया गया था ।

विचारण न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि तानाजी एक वयस्क व्यक्ति था और उस पर तामील किए गए समन को प्रतिवादियों पर समन की प्रभावी तामीली समझा जाएगा ।

4. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन की खारिजी से व्यथित होकर अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 ने तारीख 11 जून, 2013 को 2010 की सिविल अपील सं. 108 फाइल की और उसे तारीख 11 जून, 2013 को वापस ले लिया गया । अगले ही दिन अर्थात् 12 जून, 2013 को अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने 2007 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में पारित एकपक्षीय डिक्री को चुनौती देते हुए नियमित अपील फाइल की । उन्होंने उक्त अपील के साथ चार वर्ष, दस माह और आठ दिन के विलंब की माफी के लिए 2013 का सिविल प्रकीर्ण आवेदन सं. 56 भी फाइल किया । अपर जिला न्यायाधीश, बारामती द्वारा तारीख 20 फरवरी, 2014 के आदेश द्वारा विलंब की माफी के लिए उक्त आवेदन को मंजूर किया गया । न्यायालय ने यह पाया कि अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 को वाद का गुणागुण के आधार पर प्रतिवाद करने का अवसर नहीं मिला है । विद्वान् जिला न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने गलत कार्यवाहियों में अर्थात् सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करके और उसके उपरांत अपील फाइल करके अपना समय व्यतीत किया है और इसलिए विभाजन के लिए वाद में पारित एकपक्षीय डिक्री को चुनौती देते हुए अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करना न्यायसंगत और उचित होगा । तद्नुसार, जिला न्यायालय ने विचारण न्यायालय के आदेश को अपास्त कर दिया और एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल करने में हुए विलंब के लिए आवेदन को मंजूर किया ।

5. विलंब माफ करने और अपील ग्रहण करने के आदेश से व्यथित होकर प्रत्यर्थी सं. 1 से 8 ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2014 की रिट याचिका सं. 3290 फाइल की । उच्च न्यायालय ने तारीख 20 अगस्त,

2014 को आक्षेपित निर्णय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए रिट याचिका मंजूर की कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल आवेदन को गलत कार्यवाहियां नहीं कहा जा सकता है और इसलिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करके उपचार जारी रखने में व्यतीत हुए समय को परिसीमा की गणना के लिए अपवर्जित नहीं किया जा सकता है । उच्च न्यायालय ने **जोतिबा लिंबाजी कंशेनवर** बनाम **रामप्पा जोतिबा कंशेनवर**[1] वाले मामले में अपने ही निर्णय का अवलंब लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करके उपचार जारी रखने का चयन करने और अपील के उपचार को जारी न रखने जो उस समय उसके लिए खुला था तथा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन में असफल होने पर अपीलार्थी-प्रतिवादी अपील फाइल करने और विलंब की माफी की ईप्सा करने के उपचार पर वापस नहीं आ सकते हैं । उच्च न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि दोनों उपचार साथ-साथ जारी रखे जाने चाहिए और इन्हें एक के बाद दूसरे उपचार के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है और इन निष्कर्षों के आधार पर रिट याचिका मंजूर की, जोकि इस अपील में चुनौती की विषयवस्तु है ।

6. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री सुशील करंजकर ने यह दलील दी कि वाद का समन प्रतिवादी सं. 2 के तानाजी नामक पुत्र को तामील किया गया था और सुसंगत समय पर अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 किसी काम के लिए पड़ोस के गांव में थे और वे मामले की पैरवी नहीं कर सके और इसलिए अपील फाइल करने में हुए विलंब को साशय किया गया विलंब नहीं कहा जा सकता है । **बी. माधुरी गौड़** बनाम **बी. दामोदर रेड्डी**[2] वाले मामले का अवलंब लेते हुए यह दलील दी गई कि उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाया गया सतत् दृष्टिकोण यह है कि "पर्याप्त हेतुक" शब्दों का

---

[1] 1937 वाल्यूम 40 बम्बई ला रिपोर्टर 957.

[2] (2012) 12 एस. सी. सी. 693.

उदारतापूर्वक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए और जिला न्यायालय ने ठीक ही अपील फाइल करने में हुए विलंब के लिए माफी दी थी । यह दलील दी गई कि यदि अपील फाइल करने में हुए विलंब के लिए माफी नहीं दी जाती है, तो अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 और 15 गुणागुण के आधार पर प्रतिवाद करने का अवसर न मिलने के कारण वादांतर्गत संपत्ति में, जो कि अविभक्त कुटुंब की संपत्ति है, अपने मूल्यवान अधिकार को खो देंगे ।

7. प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री विनय नवारे ने यह दलील दी कि एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन कार्यवाहियां चलाने में व्यतीत हुआ समय पूर्णत: असंगत है चूंकि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन वे कार्यवाहियां कभी भी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के अधीन अपील फाइल करने के लिए वर्जन के रूप में लागू नहीं थी । यह भी दलील दी गई कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 के नियम 13 के अधीन फाइल किया गया आवेदन गुणागुण के आधार पर खारिज किया गया था और उक्त आदेश ने अंतिमता प्राप्त कर ली है और अपीलार्थी उक्त आदेश को चुनौती देते हुए अपील फाइल करने के लिए इस आधार पर विलंब की माफी की ईप्सा नहीं कर सकते हैं कि वे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन अन्य उपचार जारी रखे हुए थे ।

8. हमने दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार किया और आक्षेपित निर्णय तथा अभिलेख पर प्रस्तुत अन्य सामग्री का परिशीलन किया । विचार करने के लिए निम्नलिखित प्रश्न उद्भूत हुए हैं :–

(i) क्या एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए चलाई गई कार्यवाहियों में व्यतीत हुए समय से भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5 के अर्थांतर्गत “पर्याप्त कारण” का गठन होता है जिससे कि गुणागुण के आधार पर एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफी दी जा सके ?

(ii) जब सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के

अधीन फाइल किए गए आवेदन को गुणागुण के आधार पर खारिज कर दिया गया है, तो क्या सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के अधीन नियमित अपील फाइल करना वर्जित है ?

9. तथ्य विवादग्रस्त नहीं हैं । प्रत्यर्थी सं. 1 से 13 द्वारा विभाजन के लिए वाद वर्ष 2007 में फाइल किया गया था । इसे तारीख 4 जुलाई, 2008 को एकपक्षीय डिक्रीत किया गया था । अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने तारीख 15 अक्तूबर, 2008 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल किया और इसे तारीख 6 अगस्त, 2010 के आदेश द्वारा गुणागुण के आधार पर खारिज कर दिया गया । अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने उक्त आदेश को चुनौती देते हुए तारीख 3 सितम्बर, 2010 को एक अपील फाइल की । इसके फाइल करने के लगभग तीन वर्ष पश्चात् उक्त अपील वापस ले ली गई और अगले ही दिन अर्थात् 12 जून, 2013 को अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने 2007 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में पारित की गई डिक्री को चुनौती देते हुए चार वर्ष, दस माह और आठ दिन के विलंब की माफी के लिए आवेदन सहित अपील फाइल की ।

10. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) को संयुक्त रूप से पढ़ने पर यह अदर्शित होता है कि प्रतिवादी, जिसने एकपक्षीय डिक्री सहन की है, के पास दो उपचार होते हैं – (i) या तो वह न्यायालय का यह समाधान करते हुए कि समन सम्यक् रूप से तामील नहीं किए गए थे या वे तामील तो हुए थे, किंतु जब वाद सुनवाई के लिए पुकारा गया था तब "पर्याप्त हेतुक" से वह न्यायालय में उपसंजात नहीं हो सका था, एकपक्षीय डिक्री अपास्त करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करे ; (ii) या मूल डिक्री से प्रथम अपील न्यायालय में नियमित अपील फाइल करे और गुणागुण के आधार पर एकपक्षीय डिक्री को चुनौती दे ।

11. यह उल्लेखनीय है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 के नियम 13 और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) की व्याप्ति पूर्णत: भिन्न-भिन्न है । सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13

के अधीन फाइल किए गए आवेदन में न्यायालय को यह देखना होता है कि क्या समन सम्यक् रूप से तामील किए गए थे या नहीं अथवा जब वाद सुनवाई के लिए पुकारा गया था तब क्या प्रतिवादी किसी "पर्याप्त हेतुक" से उपसंजात होने से निवारित रहा था । यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि प्रतिवादी को समन सम्यक् रूप से तामील नहीं किया गया था या वह "पर्याप्त हेतुक" से निवारित रहा था, तो न्यायालय एकपक्षीय डिक्री को अपास्त कर सकता है और वाद को इसकी मूल स्थिति में प्रत्यावर्तित कर सकता है । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के निबंधनों के अनुसार, एकपक्षीय पारित मूल डिक्री से अपील की जाएगी । सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के अधीन फाइल नियमित अपील में अपील न्यायालय को डिक्री के गुणागुण पर विचार करने की व्यापक अधिकारिता है । केवल इस कारण कि प्रतिवादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार का आश्रय लिया था, यह बात उसे अपील फाइल करने से प्रतिषिद्ध नहीं करती है, यदि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उसका आवेदन खारिज हो जाता है ।

12. सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96(2) के अधीन अपील का अधिकार एक कानूनी अधिकार है और प्रतिवादी को अपील के कानूनी अधिकार से केवल इस आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता है कि उसके द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल किए गए आवेदन को खारिज कर दिया गया था । **भानू कुमार जैन** बनाम **अर्चना कुमार और एक अन्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि क्या इस तथ्य के बावजूद प्रथम अपील संधार्य थी कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल किया गया था और उसे खारिज कर दिया गया था । यह मत व्यक्त करते हुए कि अपील का अधिकार एक कानूनी अधिकार है और मुवक्किल को ऐसे अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है, पैरा (36) और (38) में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :–

---

[1] (2005) 1 एस. सी. सी. 787.

"36. ..... प्रथम अपील में डिक्री की शुद्धता को प्रश्नगत करने का अधिकार एक कानूनी अधिकार है । ऐसे अधिकार को तब तक कम नहीं किया जाएगा और न ही उस पर कोई रोक लगाई जाएगी जब तक कि कानून में अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा ऐसा उपबंधित न हो । [दीपल गिरिशभाई सोनी और अन्य **बनाम** यूनाइटेड इंडिया कं. लि. बड़ौदा (2004) 5 एस. सी. सी. 385 और चंद्रावती पी. के. और अन्य **बनाम** सी. के. साजी और अन्य (2004) 3 एस. सी. सी. 734 वाले मामले देखें]"

.....

"38. हमारी राय में, इस द्वन्द्व को यह अभिनिर्धारित करके सुलझाया जा सकता है कि प्रतिवादी विचारण न्यायालय द्वारा वाद को एकपक्षीय सुनवाई के लिए सूचीबद्ध करने के आदेश की शुद्धता या अन्यथा को और/या न्यायालय के समक्ष प्रतिवादी के उपसंजात न होने के लिए पर्याप्त हेतुक विद्यमान होने के विषय में दलील देने के लिए अनुज्ञात नहीं होगा, जबकि संहिता की धारा 96(2) के अधीन उसके द्वारा फाइल की गई प्रथम अपील में वह वाद के गुणागुण के आधार पर तर्क देने के लिए स्वतंत्र होगा जिससे कि वह यह दलील देने में समर्थ हो सके कि वादियों द्वारा अभिलेख पर लाई गई सामग्री उसके पक्ष में डिक्री पारित करने के लिए पर्याप्त नहीं थी या वाद अन्यथा संधार्य नहीं था । न्यायालय की अधिकारिता की कमी भी ऐसी अपील में एक संभावित अभिवाक् हो सकता है । तथापि, हम श्री चौधरी से सहमत हैं कि संहिता के आदेश 9, नियम 13 से संलग्न 'स्पष्टीकरण' का अति नियमनिष्ठ अर्थान्वयन किया जाएगा, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा रानी चौधरी **बनाम** लेफ्टिनेंट कर्नल सूरज जीत चौधरी (1982) 2 एस. सी. सी. 596, पी. किरण कुमार **बनाम** ए. एस. खादर और अन्य (2002) 5 एस. सी. सी. 161 और श्याम सुंदर शर्मा **बनाम** पन्ना लाल जायसवाल और अन्य (2005) 1 एस. सी. सी. 436 वाले मामलों में अभिनिर्धारित किया गया है ।"

13. उच्च न्यायालय ने **जोतिबा लिंबाजी** (उपर्युक्त) वाले मामले

में अपने ही निर्णय को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि एकपक्षीय डिक्री अपास्त करने के लिए निचले न्यायालय के आदेश से अपील मना होने के पश्चात् प्रतिवादी पुनरीक्षण में उच्च न्यायालय को आवेदन करने की सोच सकता है और उस प्रक्रिया में पर्याप्त समय बर्बाद हो सकता है । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में अन्य निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :–

> "15. ..... बेईमान प्रतिवादी सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल कर सकता है और इसमें गुणागुण पर विचार किए बिना आदेश को उच्चतम न्यायालय तक ले जा सकता है और उसके पश्चात् फिर भी डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल कर सकता है । वादी के लिए उस मामले में पर्याप्त समय बर्बाद हो जाएगा । प्रक्रिया विधि के अधीन प्रत्येक उपबंध का उद्देश्य न्यायसंगतता, ऋजुता और न्यायालय कार्यवाहियों के पक्षकारों को सुनवाई का पूरा अवसर देना है । यह प्रत्येक कल्पनीय स्थिति की आवश्यकता की पूर्ति करती है किन्तु साथ-ही-साथ विधि मुकदमेबाज से निष्कपट, ईमानदार और ऋजु होने की प्रत्याशा करती है । एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध उपबंधित दो उपचार दो भिन्न परिस्थितियों की बाबत हैं और केवल तब इनका आश्रय लिए जाने की प्रत्याशा की जाती है यदि किसी मुकदमेबाज के पास उस स्थिति के अनुसार तथ्य उपलब्ध हैं । उपबंधित उपचार साथ-साथ हैं और इन्हें क्रमवार उपचारों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है ।"

14. उच्च न्यायालय की उपरोक्त इस मताभिव्यक्ति को कि "उपबंधित उपचार साथ-साथ हैं और इन्हें क्रमवार उपचारों के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है" कठोर रीति में और एक अनम्य सिद्धांत के रूप में लागू नहीं किया जा सकता है । इस पर प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर रहते हुए और क्या प्रतिवादी ने

क्रमवार उपचार को आगे बढ़ाने में विलंबकारी युक्ति अपनाई है या नहीं, पर विचार किया जाना चाहिए । केवल उन मामलों में जहां प्रतिवादी ने विलंबकारी युक्ति अपनाई है या जहां दोनों उपचारों को क्रमवर्ती रूप में आगे बढ़ाने में सद्भावना की कमी है, वहां न्यायालय प्रथम अपील फाइल करने में हुए विलंब की माफी देने से इनकार कर सकता है । यदि न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार को आगे बढ़ाने में व्यतीत हुए समय के कारण विलंब की माफी देने से इनकार करता है, तो प्रतिवादी डिक्री को गुणागुण के आधार पर चुनौती देते हुए अपील करने के कानूनी अधिकार से वंचित हो जाएगा ।

15. यह भलीभांति सुस्थिर है कि "पर्याप्त कारण" का तब उदार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए जब कोई निष्क्रियता, उपेक्षा न हो और न ही अपीलार्थी पर सद्भाविकता की कमी का लांछन लगाया जा सकता हो, जिससे कि पोषणीय न्याय को अग्रसर किया जा सके । **बी. माधुरी** (उपर्युक्त) वाले मामले में विभिन्न निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :–

> "6. परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5 में और अन्य कानूनों में प्रयुक्त "पर्याप्त हेतुक" शब्द न्यायालयों को उस विधि को सार्थक रीति में लागू करने के लिए समर्थ बनाने हेतु पर्याप्त रूप से नम्य है जिससे न्याय की पूर्ति होती है । विलंब की माफी के लिए आवेदनों का विनिश्चय करने के लिए कोई कठोर नियम अधिकथित नहीं किया गया है या किया जा सकता है किंतु वर्षों से न्यायालयों ने बारंबार यह मत व्यक्त किया है कि ऐसे मामलों में उदार दृष्टिकोण अपनाए जाने की आवश्यकता है जिससे कि पक्षकारों के सारभूत अधिकार केवल विलंब के आधार पर विफल न हो सके ।"

16. **एन. बालकृष्णन्** बनाम **एम. कृष्णामूर्ति**[1] वाले मामले में इस

---

[1] (1998) 7 एस. सी. सी. 123.

न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए कि परिसीमा के नियमों का अभिप्राय पक्षकारों के अधिकारों को नष्ट करना नहीं है, निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :–

> "11. परिसीमा के नियमों का अभिप्राय पक्षकारों के अधिकारों को नष्ट करना नहीं है । उनका अभिप्राय यह देखना है कि पक्षकार विलंबकारी युक्तियों का आश्रय न लें अपितु अपने उपचार की ईप्सा तत्परता से करें । कोई विधिक उपचार प्रदान करने का उद्देश्य विधिक क्षति के कारण कारित नुकसान की भरपाई करना है । परिसीमा विधि इस प्रकार पहुंची विधिक क्षति के निवारण के लिए ऐसे विधिक उपचार हेतु एक समयावधि नियत करती है । समय मूल्यवान है और बर्बाद हुआ समय पुन: कभी हासिल नहीं होगा । समय बीतने के दौरान नए-नए कारण उत्पन्न होंगे और न्यायालयों में समावेदन करके विधिक उपचार की ईप्सा करने के लिए नए-नए व्यक्तियों की आवश्यकता होगी । इसलिए प्रत्येक उपचार के लिए एक समयावधि अवश्य नियत होनी चाहिए । उपचार को आरंभ करने के लिए अंतहीन अवधि होने से अंतहीन अनिश्चितता और पारिणामिक अराजकता उत्पन्न हो सकती है । इस प्रकार, परिसीमा विधि लोक नीति पर आधारित है । यह इस सूत्र में अंतर्विष्ट है इंट्रस्ट रिपब्लिके अप सिट फिनिस लिटियम (राज्य का हित इस बात में है कि मुकदमेबाजी का अंत हो) । परिसीमा के नियम का अभिप्राय पक्षकारों के अधिकारों को नष्ट करना नहीं है । उनका अभिप्राय यह देखना है कि पक्षकार विलंबकारी युक्तियों का आश्रय न लें अपितु अपने उपचार की ईप्सा तत्परता से करें । धारणा यह है कि प्रत्येक विधिक उपचार विधायिका द्वारा नियत समयावधि तक बचा रहना चाहिए ।"

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96 के अधीन अपील एक कानूनी अधिकार है । साधारणतया, जहां विलंब की माफी की ईप्सा करने वाले पक्षकार पर घोर उपेक्षा या

जानबूझकर निष्क्रियता या सद्भावना की कमी का लांछन न हो वहां, न्याय के हित में, अपील फाइल करने में हुए विलंब के लिए माफी दे दी जानी चाहिए ।

17. प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थी सं. 1 से 13 ने वर्ष 2007 में विभाजन के लिए एक वाद फाइल किया, जो तारीख 4 जुलाई, 2008 को एकपक्षीय डिक्री किया गया था । अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल किया और उसे तारीख 6 अगस्त, 2010 को खारिज कर दिया गया । सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन की खारिजी से व्यथित होकर अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने तारीख 3 सितम्बर, 2010 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 43, नियम 1(घ) के अधीन एक अपील फाइल की । निस्संदेह, उक्त अपील लगभग तीन वर्ष से लंबित थी और उसे तारीख 1 जून, 2013 को वापस ले लिया गया । तत्पश्चात्, अगले दिन अर्थात् तारीख 12 जून, 2013 को अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 ने 2007 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में तारीख 4 जुलाई, 2008 को पारित एकपक्षीय डिक्री और निर्णय को चुनौती देते हुए एक अपील फाइल की । यह नहीं कहा जा सकता है कि अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 मामले को आगे बढ़ाने में घोर उपेक्षावान थे, इतना ही नहीं, जब डिक्री विभाजन के लिए वाद में पारित की गई थी ।

18. यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 97 के अनुसार जहां किसी प्रारंभिक डिक्री से व्यथित कोई पक्षकार ऐसी डिक्री की अपील नहीं करता है, वहां वह उसकी शुद्धता के बारे में अंतिम डिक्री के विरुद्ध की गई अपील में विवाद करने से प्रवारित रहेगा । उद्देश्य यह है कि प्रारंभिक डिक्री पारित करने के प्रक्रम पर न्यायालय द्वारा विनिश्चित किए गए प्रश्नों को अंतिम डिक्री के समय चुनौती नहीं दी जा सकती है । यदि प्रारंभिक डिक्री के विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की गई थी, प्रत्यर्थी-वादियों द्वारा फाइल किया गया वाद

विभाजन के लिए वाद होने के कारण अपीलार्थी गुणागुण के आधार पर डिक्री को चुनौती देने के अवसर से वंचित हो जाएंगे । न्याय के हित में, अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन फाइल उनके आवेदन की खारिजी के होते हुए भी तारीख 4 जुलाई, 2008 की एकपक्षीय डिक्री को गुणागुण के आधार पर चुनौती देने का अवसर दिया जाना चाहिए ।

19. प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन को आगे बढ़ाने में व्यतीत हुए समय को प्रथम अपील फाइल करने में हुए विलंब को माफ करने के लिए "पर्याप्त हेतुक" के रूप में लिया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय कायम नहीं रखा जा सकता है और अपास्त किया जाना चाहिए ।

20. परिणामतः, 2014 की रिट याचिका सं. 3290 में उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 20 अगस्त, 2014 को पारित आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है और यह अपील मंजूर की जाती है । 2009 के नियमित सिविल वाद सं. 35 में पारित निर्णय के विरुद्ध अपील फाइल करने में हुए विलंब के लिए माफी दी जाती है और अपीलार्थी प्रत्यर्थी सं. 14 तथा 15 द्वारा फाइल की गई अपील प्रत्यावर्तित हो जाएगी । प्रथम अपील न्यायालय "श्री भीवचंद्र शंकर मोरे और अन्य बनाम श्री बालू गंगाराम मोरे और अन्य" शीर्षक वाली अपील को फाइल पर लेगा और उस पर विधि के अनुसार कार्यवाही करेगा । हम यह स्पष्ट करते हैं कि हमने मामले के गुणागुण पर कोई राय व्यक्त नहीं की है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2019] 4 उम. नि. प. 216

सुरिन्द्र सिंह देशवाल उर्फ कर्नल एस. एस. देशवाल और अन्य

बनाम

विरेन्द्र गांधी

[2019 की दांडिक अपील सं. 917-944]

29 मई, 2019

न्यायमूर्ति एम. आर. शाह और न्यायमूर्ति ए. एस. बोपन्ना

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) (2018 के अधिनियम सं. 20 द्वारा यथा संशोधित) – धारा 148 (यथा संशोधित) और धारा 138 – चैक का अनादर होने पर दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील – अपील न्यायालय द्वारा दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील लंबित रहने के दौरान प्रतिकर की 25 प्रतिशत रकम का संदाय करने का आदेश किया जाना – चैक अनादर के लिए परिवाद संशोधन से पूर्व फाइल किया जाना – संशोधन भूतलक्षी प्रभाव से लागू करने का अभिवाक् किया जाना – निर्वचन – यथा संशोधित धारा 148 के प्रयोजन और उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश के विरुद्ध अपीलों में यह धारा उस दशा में भी लागू होगी जहां दांडिक परिवाद संशोधन से पूर्व भी फाइल किए हों ।

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 – धारा 148 (यथा संशोधित) [सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 357(2) और 389] – चैक अनादर के लिए दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील लंबित रहते हुए संदाय का आदेश किया जाना – धारा 148 के प्रारंभिक शब्दों "दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में किसी बात के होते हुए भी ....." को देखते हुए – अपील न्यायालय को अपील लंबित रहने के दौरान दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) के उपबंधों को विचार में लाए बिना अभियुक्त को विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर/जुर्माने की रकम का न्यूनतम 20 प्रतिशत जमा करने का निदेश देने की शक्ति है ।

इन अपीलों के तथ्यों के अनुसार, अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों के विरुद्ध परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दांडिक परिवाद फाइल किए गए थे । उक्त दांडिक परिवाद तारीख 2 अगस्त, 2018 से पूर्व फाइल किए गए थे । विद्वान् विचारण न्यायालय ने तारीख 30 अक्तूबर, 2018 के निर्णय और आदेश द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया और दो वर्ष का कारावास भुगतने का तथा जुर्माने के रूप में चैक की रकम जमा एक प्रतिशत ब्याज और मुकदमेबाजी के खर्चे के रूप में संदाय करने का दंडादेश दिया । अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों ने विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा उन्हें परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध करने और विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित दंडादेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर प्रथम अपील न्यायालय विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश, पंचकूला के समक्ष दांडिक अपीलें फाइल कीं । उक्त अपीलों में, अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन, अपील/अपीलों के लंबित रहने के दौरान दंडादेश को निलंबित करने और उन्हें जमानत पर रिहा करने के लिए आवेदन प्रस्तुत किए । प्रथम अपील न्यायालय ने दंडादेश को निलंबित करते हुए और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन आवेदन/आवेदनों को मंजूर करते हुए, परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 जिसे 2018 के संशोधन अधिनियम सं. 20 द्वारा संशोधित किया गया था और जो तारीख 1 सितम्बर, 2018 से प्रवृत्त हुआ था, के उपबंधों पर विचार करते हुए अपीलार्थियों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर/जुर्माने की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश दिया । विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर/जुर्माने की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए पारित किए गए आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थियों ने पुनरीक्षण आवेदन/आवेदनों के माध्यम से पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ के समक्ष समावेदन किया । उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदनों को खारिज कर दिया गया और प्रथम अपील न्यायालय के आदेश की पुष्टि की । मूल अभियुक्तों द्वारा उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपीलें

फाइल की गईं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – उस समय जब परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138क के अधीन अपराध के लिए अपीलार्थियों की दोषसिद्धि के विरुद्ध अपीलें फाइल की गई थीं, तब परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 का संशोधन करने वाला 2018 का संशोधन अधिनियम सं. 20 तारीख 1 सितम्बर, 2018 से प्रवृत्त हो गया था । यहां तक कि, उस समय जब अपीलार्थियों ने दोषसिद्धि और दंडादेश को चुनौती देने वाली अपीलों के लंबित रहते हुए दंडादेश को निलंबित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन आवेदन फाइल किया था/किए थे तब परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 प्रवृत्त हो गई थी और तारीख 9 सितम्बर, 2018 से कानून में आ गई थी । इसलिए, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्य और प्रयोजन पर विचार करते हुए और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन शक्तियों को प्रयोग करते हुए जब प्रथम अपील न्यायालय ने दंडादेश को निलंबित करते हुए अपीलार्थियों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित जुर्माने/प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश दिया था, उसे पूर्णतया परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के अनुरूप कहा जा सकता है । संसद् ने यह अवलोकन करने और यह पाए जाने पर कि अनादृत चैकों के बेईमान लेखीवालों द्वारा अपील फाइल करने और कार्यवाहियों पर रोक आदेश प्राप्त करने की सरलता की वजह से विलंबकारी दाव-पेचों के कारण परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधिनियमन का उद्देश्य और प्रयोजन विफल किया जा रहा है, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 का संशोधन करना उचित समझा, जिसके द्वारा प्रथम अपील न्यायालय को परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन की गई दोषसिद्धि को चुनौती देते हुए फाइल की गई अपील में दोषसिद्ध अभियुक्त-अपीलार्थी को ऐसी राशि, जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी, जमा करने का निदेश देने की शक्ति प्रदत्त की गई है । परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से

यह नहीं कहा जा सकता है कि अभियुक्त-अपीलार्थी का अपील करने का कोई निहित अधिकार छीना गया है और/या प्रभावित हुआ है । इसलिए अपीलार्थियों की ओर से दी गई इस दलील में, कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं होगी और अति विशिष्ट रूप से तारीख 1 सितम्बर, 2018 से पूर्व फाइल किए गए मामलों/परिवादों पर लागू नहीं होगी, कोई सार नहीं है और स्वीकार नहीं की जा सकती है क्योंकि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से अपील करने का कोई सारभूत अधिकार छीना नहीं गया है और/या प्रभावित नहीं हुआ है । जहां तक अपीलार्थियों की ओर से इस दलील का कि यदि परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 में प्रयुक्त भाषा पर भी विचार किया जाए, तो अपील न्यायालय अपीलार्थी को ऐसी राशि जमा करने का आदेश "दे सकेगा" (मे) जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर की न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी और प्रयुक्त शब्द "देगा" (सैल) नहीं है और इसलिए प्रथम अपील न्यायालय के पास अपीलार्थी को अमुक राशि जमा करने का निदेश देने का विवेकाधिकार निहित है और अपील न्यायालय ने इसका अर्थान्वयन आज्ञापक के रूप में किया है जो अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता के अनुसार, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 के उपबंधों के प्रतिकूल है, का संबंध है, परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 को समग्र रूप से परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधनकारी धारा 148 के उद्देश्यों और कारणों के साथ पढ़े जाने पर यद्यपि यह सही है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 में प्रयुक्त शब्द "सकेगा" (मे) है, तो भी इसका साधारणतया, "नियम" या "देगा" (सैल) के रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए न कि अपील न्यायालय द्वारा जमा करने का निदेश देना एक अपवाद है जिसके लिए विशेष कारण दिए जाने चाहिए, के रूप में किया जाना चाहिए । अत:, परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 में अपील न्यायालय को अपील के लंबित रहते हुए अपीलार्थी-अभियुक्त को या तो मूल परिवादी द्वारा फाइल किए गए आवेदन पर या दंडादेश को निलंबित करने के लिए अपीलार्थी-अभियुक्त द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन फाइल किए गए आवेदन पर भी

ऐसी राशि जमा करने का निदेश देने के लिए आदेश पारित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है, जो जुर्माने या प्रतिकर के 20 प्रतिशत से कम नहीं होगी । पूर्वोक्त अर्थान्वयन इस तथ्य पर विचार करते हुए किया जाना आवश्यक है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 के अनुसार, विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत जमा किए जाने का निदेश दिया जाना है और ऐसी रकम आदेश की तारीख से 60 दिन की अवधि के भीतर या 30 दिन से अनधिक की ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जमा की जानी चाहिए जो अपीलार्थी द्वारा दर्शित पर्याप्त कारण से अपील न्यायालय द्वारा निदेशित की जाए । अतः, यदि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 का ऐसी रीति में प्रयोजनात्मक रूप से निर्वचन किया जाता है तो इससे न केवल परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों की पूर्ति होगी अपितु परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 की भी पूर्ति होगी । परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 के प्रारंभिक शब्द यह है कि "दंड प्रक्रिया संहिता में किसी बात के होते हुए....." । इसलिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) के उपबंधों के विचार में लाए बिना, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश को चुनौती प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष अपील लंबित रहते हुए, अपील न्यायालय को अपील लंबित रहते हुए अपीलार्थी को ऐसी राशि जमा करने का निदेश देने की शक्ति प्रदत्त की गई है जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी । उपरोक्त को दृष्टि में रखते हुए और इसमें ऊपर उल्लिखित कारणों से, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश में किसी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है । (पैरा 8, 8.1, 9 और 10)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2019]	2019 दांडिक रिट याचिका सं. 258 :	
	अजय विनोद चन्द्र शाह बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	5.6

[2018] 2018 की सी. आर. आर. सं. 9872,
जिसका विनिश्चय 4 अप्रैल, 2019 को किया गया :
मैसर्स गिन्नी गारमेंट्स और एक अन्य बनाम
मैसर्स सेठी गारमेंट्स ; 5.5

[2015] (2015) 4 एस. सी. सी. 33 :
विडियोकोन इंटरनेशनल लिमिटेड बनाम
भारत का प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड ; 5.3,8.1

[2007] (2007) 6 एस. सी. सी. 528 :
दिलीप एस. धानुकर बनाम **कोटक महिन्द्रा बैंक** ; 5.7,10

[1957] ए. आई. आर. 1957 एस. सी. 540 :
गारिकापट्टी वीराया बनाम **एन. सुब्बय्या चौधरी** । 5.3,8.1

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2019 की दांडिक अपील सं. 917-944.

2011 के सीआरएम-एम सं. 3377, 3790, 3828, 3857, 3860, 3862, 3864, 3867, 3868, 3869, 3871, 3875, 3888, 3894, 3895, 3904, 3906, 3912, 3913, 3921, 3924, 3925, 3926, 3929, 3932, 3949, 4018 और 3369 में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के तारीख 24 अप्रैल, 2019 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री विजय हंसारिया, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अमर नंदराजोग, समीर सोढ़ी और सिद्धार्थ शर्मा

प्रत्यर्थी की ओर से श्री आलोक सांगवान

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एम. आर. शाह ने दिया ।

न्या. शाह – इजाजत दी गई ।

2. चूंकि अपीलों के इस समूह में विधि और तथ्यों का सामान्य प्रश्न उद्भूत हुआ है, इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश से उद्भूत इन सभी अपीलों का विनिश्चय

और निपटारा एक साथ इस सामान्य निर्णय और आदेश द्वारा किया जा रहा है ।

3. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ द्वारा पारित उस आक्षेपित सामान्य आदेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर मूल अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों ने ये अपीलें फाइल की हैं, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने अलग-अलग पुनरीक्षण आवेदनों को खारिज कर दिया था और प्रथम अपील न्यायालय-विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश, पंचकूला द्वारा इस अपील में अपीलार्थियों-मूल अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों को परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'परक्राम्य लिखत अधिनियम' कहा गया है) की धारा 148 में 2018 के संशोधन अधिनियम सं. 20 द्वारा किए गए उपबंधों को ध्यान में रखते हुए प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए पारित किए गए आदेश की पुष्टि की थी ।

4. ये अपीलें फाइल करने से संबंधित तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं । इन अपीलों में अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों के विरुद्ध परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दांडिक परिवाद फाइल किए गए थे । उक्त दांडिक परिवाद तारीख 2 अगस्त, 2018 से पूर्व फाइल किए गए थे । विद्वान् विचारण न्यायालय ने अपीलार्थियों को तारीख 30 अक्तूबर, 2018 के निर्णय और आदेश द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया और दो वर्ष का कारावास भुगतने का तथा जुर्माने के रूप में चैक की रकम जमा एक प्रतिशत ब्याज और मुकदमेबाजी के खर्चे के रूप में संदाय करने का दंडादेश दिया ।

4.1 अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों ने विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा उन्हें परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध करने और विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित दंडादेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर प्रथम अपील न्यायालय – विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश, पंचकूला के समक्ष दांडिक अपीलें फाइल कीं । उक्त अपीलों में, अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों ने दंड

प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन, अपील/अपीलों के लंबित रहने के दौरान, दंडादेश को निलंबित करने और उन्हें जमानत पर रिहा करने के लिए आवेदन प्रस्तुत किए ।

4.2 प्रथम अपील न्यायालय ने दंडादेश को निलंबित करते हुए और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन आवेदन/आवेदनों को मंजूर करते हुए, परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148, जिसे 2018 के संशोधन अधिनियम सं. 20 द्वारा संशोधित किया गया था और जो तारीख 1 सितम्बर, 2018 से प्रवृत्त हुआ था, के उपबंधों पर विचार करते हुए अपीलार्थियों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर/जुर्माने की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश दिया ।

4.3 विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय-विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश, पंचकूला द्वारा अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों-मूल अपीलार्थियों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित दोषसिद्धि और दंडादेश को चुनौती देने वाली अपील के लंबित रहते हुए विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर/जुर्माने की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए पारित किए गए आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थियों ने पुनरीक्षण आवेदन/आवेदनों के माध्यम से पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ के समक्ष समावेदन किया ।

4.4 अपीलार्थियों की ओर से पक्षकथन यह था कि 2018 के अधिनियम सं. 20 द्वारा यथा संशोधित परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 उन दांडिक कार्यवाहियों की बाबत लागू नहीं होगी जो परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से पूर्व ही आरंभ हो गई थी ।

4.5 उच्च न्यायालय ने एक विस्तृत निर्णय और आदेश द्वारा पूर्वोक्त दलील को स्वीकार नहीं किया और पुनरीक्षण आवेदन/आवेदनों को खारिज कर दिया तथा विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय-विद्वान् सेशन न्यायाधीश, पंचकूला द्वारा अपीलार्थियों-मूल अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों को परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 पर विचार करते हुए विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत

प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए पारित आदेश की पुष्टि की ।

4.6 उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन/आवेदनों को खारिज करते हुए और विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अपीलार्थियों-मूल अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम का परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 के अधीन 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए पारित आदेश/आदेशों की पुष्टि करते हुए पारित किए गए आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर मूल अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों ने ये अपीलें फाइल की हैं ।

5. विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री विजय हंसारिया अपीलार्थियों-मूल अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों की ओर से हाजिर हुए और विद्वान् अधिवक्ता श्री आलोक सांगवान मूल परिवादी की ओर से हाजिर हुए ।

5.1 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री विजय हंसारिया ने जोरदार रूप से यह दलील दी कि प्रस्तुत मामले में उच्च न्यायालय तथा विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय दोनों ने परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 के अनुसार अपीलार्थियों को प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देकर सारभूत रूप से गलती की है ।

5.2 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा जोरदार रूप से यह दलील दी गई कि प्रस्तुत मामले में चूंकि अभियुक्तों के विरुद्ध परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दांडिक कार्यवाहियां संशोधन अधिनियम प्रवृत्त होने से पूर्व आरंभ की गई थीं और परिवाद फाइल किए थे, इसलिए परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 लागू नहीं होगी ।

5.3 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा यह भी दलील दी गई कि विचारण न्यायालय या अपील न्यायालय द्वारा विधिक कार्यवाहियां, चाहे सिविल हों या दांडिक,

वाद फाइल करने या अभिकथित अपराध करने की तारीख को लागू विधि के आधार पर, जब तक कि उस विधि को भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(1) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, अभिव्यक्त रूप से भूतलक्षी प्रभाव से संशोधित न किया गया हो, विनिश्चित की जानी चाहिए । अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपनी उपरोक्त दलील के समर्थन में **गारिकापट्टी वीराया** बनाम **एन. सुब्बय्या चौधरी**[1] और **विडियोकोन इंटरनेशनल लिमिटेड** बनाम **भारत का प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चयों का पुरजोर रूप से अवलंब लिया ।

5.4 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा आगे यह दलील दी गई कि प्रस्तुत मामले में अन्यथा भी प्रथम अपील न्यायालय ने परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में के शब्द "कर सकेगा" (मे) का निर्वचन "करेगा" के रूप में किया और इस आधार पर अग्रसर हुआ कि अपील न्यायालय के लिए यह आज्ञापक है कि वह दंडादेश के निलंबन के लिए विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश दे ।

5.5 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा यह भी दलील दी गई कि प्रथम अपील न्यायालय ने **मैसर्स गिन्नी गारमेंट्स और एक अन्य** बनाम **मैसर्स सेठी गारमेंट्स**[3] वाले मामले में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के विनिश्चय का जोरदार अवलंब लिया था, जिसमें अभिनिर्धारित किया गया था कि अपील न्यायालय के पास दंडादेश का निलंबन करने के लिए शर्त अधिरोपित किए जाने या अधिरोपित न किए जाने का विवेकाधिकार जारी है और यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि तथापि, यदि प्रतिकर/जुर्माने के संदाय के अध्यधीन दंडादेश का निलंबन करने के

---

[1] ए. आई. आर. 1957 एस. सी. 540.

[2] (2015) 4 एस. सी. सी. 33.

[3] 2018 की सी. आर. आर. सं. 9872, जिसका विनिश्चय 4 अप्रैल, 2019 को किया गया ।

विवेकाधिकार का प्रयोग किया जाता है, तो ऐसा आदेश अवश्य परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 के अनुरूप होना चाहिए । यह दलील दी गई है कि, तथापि, प्रस्तुत मामले में, अपील न्यायालय ने विवेकाधिकार का प्रयोग नहीं किया और इस धारणा के आधार पर अग्रसर हुआ कि दंडादेश के निलंबन के लिए जुर्माने या प्रतिकर का 25 प्रतिशत जमा करना एक शर्त के रूप में आज्ञापक है । यह दलील दी गई है कि इसलिए उच्च न्यायालय को **मैसर्स गिन्नी गारमेंट्स** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय करने के लिए मामला अपील न्यायालय को वापस भेजा जाना चाहिए था ।

5.6 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता ने यह भी दलील दी कि **अजय विनोद चन्द्र शाह** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया है । यह दलील दी गई कि उक्त विनिश्चय में बम्बई उच्च न्यायालय ने भी यह मत व्यक्त किया था और अभिनिर्धारित किया था कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 के अनुसार, अपील न्यायालय को अपील लंबित रहते हुए राशि जमा करने का निदेश देने का विवेकाधिकार है, किंतु यदि ऐसा निदेश दिया जाता है, तो वह राशि विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर की रकम का 20 प्रतिशत से कम नहीं होगी । यह दलील दी गई कि प्रस्तुत मामले में अपील न्यायालय ने गलत रूप से यह उपधारित किया कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 के अधीन अपेक्षा जुर्माने या प्रतिकर का 25 प्रतिशत जमा करने की है ।

5.7 अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा यह भी दलील दी गई कि प्रस्तुत मामले में विद्वान् विचारण न्यायालय ने परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन जुर्माना चैक की रकम के बराबर जमा एक प्रतिशत अधिरोपित किया था । यह दलील दी गई कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) के अनुसार अपील का विनिश्चय होने तक कोई ऐसा जुर्माना संदेय नहीं

---

[1] 2019 दांडिक रिट याचिका सं. 258.

है । यह दलील दी गई कि इसलिए भी प्रथम अपील न्यायालय को अपील (अपीलें) लंबित रहते हुए अपीलार्थियों को जुर्माने/प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए कोई आदेश पारित नहीं करना चाहिए था । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपनी उपरोक्त दलील के समर्थन में **दिलीप एस. धानुकर** बनाम **कोटक महिन्द्रा बैंक**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का पुरजोर रूप से अवलंब लिया ।

5.8 उपरोक्त दलीलें देने और पूर्वोक्त विनिश्चयों का अवलंब लेने के उपरांत यह प्रार्थना की गई है कि प्रस्तुत अपीलें मंजूर की जाएं और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित और उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि किए गए आक्षेपित आदेश, जिसके द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 को विचार में लेते हुए अपीलार्थियों को प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश दिया गया है, अपास्त किया जाए ।

6. मूल परिवादी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री आलोक सांगवान ने जोरदार रूप से यह दलील दी कि प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अपीलार्थियों को अपील के लंबित रहते हुए और विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित दंडादेश को निलंबित करते हुए प्रतिकर/जुर्माने की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देना पूर्णत: परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के अनुरूप है । यह दलील दी गई कि यह पाए जाने पर कि अनादृत चैकों के बेईमान लेखीवालों द्वारा आसानी से अपीलें फाइल करने और कार्यवाहियों पर रोक अभिप्राप्त करने की वजह से विलंबकारी दाव-पेचों के कारण परक्राम्य लिखत अधिनियम का उद्देश्य और प्रयोजन विफल किया जा रहा है और यह पाए जाने पर कि ऐसे विलंबकारी दाव-पेचों के कारण अनादृत चैक के पाने वाले के साथ अन्याय होता है जिसे चैक के मूल्य को वसूल करने के लिए न्यायिक कार्यवाहियों में पर्याप्त समय और साधन गंवाने पड़ते हैं, संसद् ने परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 का संशोधन करना उचित समझा जिसमें प्रथम अपील न्यायालय को अपीलार्थी को (परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138

---

[1] (2007) 6 एस. सी. सी. 528.

के अधीन दोषसिद्ध व्यक्ति) ऐसी राशि जमा करने का निदेश देने की शक्तियां प्रदत्त की गई हैं जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत होगा । यह दलील दी गई है कि इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित किए गए आदेश में हस्तक्षेप करने से ठीक ही इनकार किया गया है जो कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 के उपबंधों के अनुरूप है ।

6.1 मूल परिवादी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् अधिवक्ता द्वारा यह भी दलील दी गई कि जहां तक अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों की ओर से दी गई इस दलील का संबंध है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं की जाएगी और उन दांडिक कार्यवाहियों से उद्भूत अपीलों को लागू नहीं होगी जो परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से बहुत पहले आरंभ की गई थी, जोरदार रूप से यह दलील दी गई कि पूर्वोक्त दलील में कोई सार नहीं है । यह दलील दी गई कि पहली बात तो यह है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में किए गए सभी संशोधन प्रक्रियात्मक प्रकृति के हैं और इसलिए इनका भूतलक्षी प्रभाव से लागू होने का प्रश्न ही नहीं है । यह दलील दी गई कि इसलिए परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से अपीलार्थियों को अपील करने के किसी निहित अधिकार को छीना नहीं गया है या प्रभावित नहीं हुआ है । यह दलील दी गई कि प्रस्तुत मामले में, स्वीकृतत:, अपीलें परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के प्रवृत्त होने के पश्चात् फाइल की गई थीं और इसलिए प्रथम अपील न्यायालय द्वारा ठीक ही परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 का अवलंब लिया गया है/लागू किया गया है । यह दलील दी गई कि इसलिए परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 अंत:स्थापित करके अधिनियम में इस प्रकार लाया गया संशोधन शुद्ध रूप से प्रक्रियात्मक प्रकृति का है न कि सारभूत प्रकृति का है और इसमें अपीलार्थियों का निहित अधिकार प्रभावित नहीं होता है, इसलिए इसका भूतलक्षी प्रभाव हो सकता है और प्रस्तुत मामले में भी लागू किया जा सकता है ।

6.2 अब जहां तक दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) के लिए गए अवलंब और अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता की इस दलील का संबंध है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) को ध्यान में रखते हुए अपील के लंबित रहने के दौरान जुर्माना वसूलनीय नहीं है, जोरदार रूप से यह दलील दी गई कि प्रस्तुत मामले में परक्राम्य लिखत अधिनियम यथा संशोधित धारा 148 में विनिर्दिष्ट रूप से उल्लिखित है कि "दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में किसी बात के होते हुए ....।" यह दलील दी गई कि इसलिए परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 लागू होगी और अपील न्यायालय सदैव उतनी राशि, जो विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित प्रतिकर/जुर्माने की रकम के 20 प्रतिशत से कम न हो, जमा करने का निदेश देने के लिए स्वतंत्र है ।

6.3 उपरोक्त दलीलें देकर यह प्रार्थना की गई कि प्रस्तुत अपीलें खारिज की जाएं ।

7. हमने संबंधित पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को विस्तारपूर्वक सुना ।

7.1 संक्षिप्त प्रश्न जो इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए रखा गया है, यह है कि क्या प्रथम अपील न्यायालय ने अपीलार्थियों-मूल अभियुक्तों को, जिन्हें परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है, परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 को विचार में लेते हुए दोषसिद्ध और दंडादेश के आदेश को चुनौती देते हुए फाइल की गई अपीलों के लंबित रहते हुए और दंडादेश को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन निलंबित करते हुए विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित प्रतिकर/जुर्माने की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देकर न्यायोचित्य किया है ?

7.2 पूर्वोक्त विवाद्यक/प्रश्न पर विचार करते हुए 2018 के संशोधन अधिनियम सं. 20 द्वारा यथा संशोधित परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के कथन और परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 को निर्दिष्ट और विचार किया जाना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार से है :–

"परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (अधिनियम) को वचन

पत्रों, विनिमय पत्रों और चैकों से संबंधित विधि को परिभाषित और संशोधित करने के लिए अधिनियमित किया गया था । उक्त अधिनियम को समय-समय पर संशोधित किया जाता रहा है, जिससे अन्य बातों के साथ-साथ चैकों के अनादर के अपराध से संबंधित मामलों के शीघ्र निपटान का उपबंध किया जा सके । तथापि, केन्द्रीय सरकार को जनता से, जिसके अंतर्गत व्यापारिक समुदाय भी है, चैक अनादरण मामलों के लंबित रहने के संबंध में विभिन्न अभ्यावेदन प्राप्त हो रहे हैं । इसका कारण, अपीलें फाइल करने और कार्यवाहियों पर रोक आदेश प्राप्त करने में सरलता के कारण अनाद्धृत चैकों के बेईमान लेखीवालों के विलंबकारी दाव-पेंच हैं । इसके परिणामस्वरूप किसी अनाद्धृत चैक के ऐसे पाने वाले के साथ अन्याय होता है, जिसे चैक के मूल्य को वसूल करने के लिए न्यायालय की कार्यवाहियों में अत्यधिक समय और साधन गंवाने होते हैं । ऐसे विलंबों से चैक संव्यवहारों की आदरणीयता पर जोखिम होता है ।

2. चैक अनादरण मामलों में अंतिम समाधान में असम्यक् विलंब के मुद्दे का हल करने की दृष्टि से उक्त अधिनियम में संशोधन का प्रस्ताव है जिससे अनाद्धृत चैकों के पाने वालों को अनुतोष प्रदान किया जा सके तथा तुच्छ और अनावश्यक मुकदमेबाजी को हतोत्साहित किया जा सके, जिससे समय और धन की बचत होगी । प्रस्तावित संशोधनों से चैकों की विश्वसनीयता सुदृढ़ होगी और उधार देने वाले संस्थाओं को, जिसके अंतर्गत बैंक भी है, अर्थव्यवस्था के उत्पादक सेक्टरों को वित्त पोषण करना जारी रखने की अनुज्ञा देकर साधारणतया व्यापार और वाणिज्य में सहायता मिलेगी ।

3. इसलिए परक्राम्य लिखत (संशोधन) विधेयक, 2017 का पुर:स्थापित करने का प्रस्ताव अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित का उपबंध करने के लिए है, अर्थात् –

(i) उक्त अधिनियम में एक नई धारा 143क को यह उपबंध करने के लिए अंत:स्थापित करना है कि धारा 138 के

अधीन किसी अपराध का विचारण करने वाला न्यायालय, चैक के लेखीवाल को, किसी संक्षिप्त विचारण या किसी समन मामले में, जहां वह परिवाद में लगाए गए अभियोगों का दोषी नहीं होने का अभिवाक् करता है और किसी भी अन्य मामले में आरोप के विरचित किए जाने पर, परिवादी को अंतरिम प्रतिकर का संदाय करने का आदेश दे सकेगा । इस प्रकार संदेय अंतरिम प्रतिकर ऐसी राशि होगी, जो चैक की रकम के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं होगी ; और

(ii) उक्त अधिनियम में एक नई धारा 148 को यह उपबंध करने के लिए अंत:स्थापित करना है कि धारा 138 के अधीन लेखीवाल द्वारा दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील में अपील न्यायालय, अपीलार्थी को ऐसी राशि जमा करने का आदेश दे सकेगा, जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर के न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी ।

4. विधेयक पूर्वोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए है ।

"148. दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील लंबित रहते हुए अपील न्यायालय की संदाय करने का आदेश देने की शक्ति – (1) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) में किसी बात के होते हुए, अपील न्यायालय लेखीवाल द्वारा धारा 138 के अधीन दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील में अपीलार्थी को ऐसी राशि जमा करने का आदेश दे सकेगा जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी :

परंतु इस उपधारा के अधीन संदेय रकम धारा 143क के अधीन अपीलार्थी द्वारा संदत्त किसी अंतरिम प्रतिकर के अतिरिक्त होगी ।

(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट रकम आदेश की तारीख से साठ दिन के भीतर या तीस दिन से अनधिक ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जो अपीलार्थी द्वारा पर्याप्त कारण दर्शित करने पर न्यायालय द्वारा निदेशित की जाए, जमा की जाएगी ।

(3) अपील न्यायालय अपील के लंबित रहने के दौरान किसी समय परिवादी को अपीलार्थी द्वारा जमा की गई रकम को उन्मोचित करने का निदेश दे सकेगा :

परंतु यदि अपीलार्थी दोषमुक्त हो जाता है, तो न्यायालय परिवादी को इस प्रकार उन्मोचित की गई रकम अपीलार्थी को उस बैंक दर पर ब्याज सहित, जो भारत के रिर्जव बैंक द्वारा प्रकाशित अनुसार सुसंगत वित्तीय वर्ष के आरंभ पर लागू हो, आदेश की तारीख से साठ दिन के भीतर या तीस दिन से अनधिक की ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर, जो परिवादी द्वारा पर्याप्त कारण दर्शित करने पर न्यायालय द्वारा निदेशित की जाए, प्रतिसंदाय करने का निदेश देगा ।"

8. अपीलार्थियों की ओर से पक्षकथन यह है कि चूंकि अपीलार्थियों के विरुद्ध परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन परिवाद 2018 के संशोधन अधिनियम सं. 20, जिसके द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 संशोधित की गई थी, से पहले दर्ज/फाइल किए गए थे और इसलिए परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 लागू नहीं की जाएगी । तथापि, यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि उस समय जब परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए अपीलार्थियों की दोषसिद्धि के विरुद्ध अपीलें फाइल की गई थीं, तब परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 का संशोधन करने वाला 2018 का संशोधन अधिनियम सं. 20 तारीख 1 सितम्बर, 2018 से प्रवृत्त हो गया था । यहां तक कि, उस समय जब अपीलार्थियों ने दोषसिद्धि और दंडादेश को चुनौती देने वाली अपीलों के लंबित रहते हुए दंडादेश को निलंबित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन आवेदन फाइल किया था/किए थे तब परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 प्रवृत्त हो गई थी और तारीख 9 सितम्बर, 2018 से कानून में आ गई थी । इसलिए, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्य और प्रयोजन पर विचार करते हुए और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए जब प्रथम अपील न्यायालय ने दंडादेश को निलंबित

करते हुए अपीलार्थियों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित जुर्माने/प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश दिया था, उसे पूर्णतया परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के अनुरूप कहा जा सकता है ।

8.1 संसद् ने यह अवलोकन करने और यह पाए जाने पर कि अनादृत चैकों के बेईमान लेखीवालों द्वारा अपील फाइल करने और कार्यवाहियों पर रोक आदेश प्राप्त करने की सरलता की वजह से विलंबकारी दाव-पेचों के कारण परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधिनियमन का उद्देश्य और प्रयोजन विफल किया जा रहा है, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 का संशोधन करना उचित समझा, जिसके द्वारा प्रथम अपील न्यायालय को परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन की गई दोषसिद्धि को चुनौती देते हुए फाइल की गई अपील में दोषसिद्ध अभियुक्त-अपीलार्थी को ऐसी राशि, जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी, जमा करने का निदेश देने की शक्ति प्रदत्त की गई है । परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से यह नहीं कहा जा सकता है कि अभियुक्त-अपीलार्थी का अपील करने का कोई निहित अधिकार छीना गया है और/या प्रभावित हुआ है । इसलिए अपीलार्थियों की ओर से दी गई इस दलील में, कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं होगी और अति विशिष्ट रूप से तारीख 1 सितम्बर, 2018 से पूर्व फाइल किए गए मामलों/परिवादों पर लागू नहीं होगी, कोई सार नहीं है और स्वीकार नहीं की जा सकती है क्योंकि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन से अपील करने का कोई सारभूत अधिकार छीना नहीं गया है और/या प्रभावित नहीं हुआ है । अत: अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा **गारिका पट्टी वीराया** (उपर्युक्त) और **विडियोकॉन इंटरनेशनल लिमिटेड** (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चयों का लिया गया अवलंब प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होगा । इसलिए इसमें ऊपर उल्लिखित परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों के कथन पर विचार करते हुए, परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित

धारा 148 के प्रयोजनात्मक निर्वचन के आधार पर हमारी यह राय है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश के विरुद्ध अपीलों की बाबत ऐसी दशा में भी लागू होगी, जहां परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन अपराध के लिए दांडिक परिवाद 2018 के संशोधन अधिनियम सं. 20 अर्थात् तारीख 1 सितम्बर, 2018 से पूर्व फाइल किए गए थे । यदि ऐसा प्रयोजनात्मक निर्वचन नहीं अपनाया जाता है, तो उस स्थिति में, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन का उद्देश्य और प्रयोजन विफल हो जाएगा । इसलिए विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 पर विचार करते हुए अपीलार्थियों को विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा यथा अधिरोपित जुर्माने/प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देने में किसी प्रकार की कोई गलती नहीं की गई है ।

9. अब जहां तक अपीलार्थियों की ओर से इस दलील का कि यदि परक्राम्य लिखत अधिनियम की यथा संशोधित धारा 148 में प्रयुक्त भाषा पर भी विचार किया जाए, तो अपील न्यायालय अपीलार्थी को ऐसी राशि जमा करने का आदेश "दे सकेगा" (मे) जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर की न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी और प्रयुक्त शब्द "देगा" (सैल) नहीं है और इसलिए प्रथम अपील न्यायालय के पास अपीलार्थी को अमुक राशि जमा करने का निदेश देने का विवेकाधिकार निहित है और अपील न्यायालय ने इसका अर्थान्वयन आज्ञापक के रूप में किया है जो अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता के अनुसार, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 के उपबंधों के प्रतिकूल है, का संबंध है, परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 को समग्र रूप से परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधनकारी धारा 148 के उद्देश्यों और कारणों के साथ पढ़े जाने पर यद्यपि यह सही है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 में प्रयुक्त शब्द "सकेगा" (मे) है, तो भी इसका साधारणतया, "नियम" या "देगा" (सैल) के रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए न कि अपील न्यायालय द्वारा जमा करने का निदेश देना एक अपवाद है

जिसके लिए विशेष कारण दिए जाने चाहिए, के रूप में किया जाना चाहिए । अत:, परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 में अपील न्यायालय को अपील के लंबित रहते हुए अपीलार्थी-अभियुक्त को या तो मूल परिवादी द्वारा फाइल किए गए आवेदन पर या दंडादेश को निलंबित करने के लिए अपीलार्थी-अभियुक्त द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन फाइल किए गए आवेदन पर भी ऐसी राशि जमा करने का निदेश देने के लिए आदेश पारित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है, जो जुर्माने या प्रतिकर के 20 प्रतिशत से कम नहीं होगी । पूर्वोक्त अर्थान्वयन इस तथ्य पर विचार करते हुए किया जाना आवश्यक है कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 के अनुसार, विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत जमा किए जाने का निदेश दिया जाना है और ऐसी रकम आदेश की तारीख से 60 दिन की अवधि के भीतर या 30 दिन से अनधिक की ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जमा की जानी चाहिए जो अपीलार्थी द्वारा दर्शित पर्याप्त कारण से अपील न्यायालय द्वारा निदेशित की जाए । अत:, यदि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 का ऐसी रीति में प्रयोजनात्मक रूप से निर्वचन किया जाता है, तो इससे न केवल परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में संशोधन के उद्देश्यों और कारणों की पूर्ति होगी अपितु परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 की भी पूर्ति होगी । परक्राम्य लिखत अधिनियम को समय-समय पर संशोधित किया जाता रहा है जिससे कि अन्य बातों के साथ-साथ चैकों के अनादरण के अपराध से संबंधित मामलों के शीघ्र निपटान के लिए उपबंध किया जा सके और इसका कारण, अनादृत चैकों के बेईमान लेखीवालों द्वारा अपीलें फाइल करने और कार्यवाहियों पर आदेश प्राप्त करने में सरलता के कारण विलंबकारी दाव-पेंच हैं और इसके परिणामस्वरूप अनादृत चैक के पाने वाले के साथ अन्याय होता है जिसे चैक के मूल्य को वसूल करने के लिए पर्याप्त समय और साधन गंवाने पड़ते हैं और इस बात का अवलोकन करने के पश्चात् ऐसे विलंब से चैक से होने वाले संव्यवहारों की आदरणीयता पर जोखिम होता है, संसद् ने यह उचित समझा कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 का संशोधन किया जाए । इसलिए ऐसा प्रयोजनात्मक निर्वचन परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 148 में

संशोधन के साथ-साथ परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के भी उद्देश्यों और कारणों को अग्रसर करेगा ।

10. अब जहां तक अपीलार्थियों की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) का अवलंब लेकर दी गई इस दलील का, कि जब एक बार दोषसिद्धि के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल कर दी जाती है, तो अपील के लंबित रहते हुए जुर्माना वसूलनीय नहीं है और इसलिए जुर्माने का 25 प्रतिशत जमा करने का ऐसा आदेश पारित नहीं किया जाना चाहिए था और उपरोक्त के समर्थन में **दिलीप एस. धानुकर** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेने का संबंध है, पूर्वोक्त दलील में कोई सार नहीं है । परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 के प्रारंभिक शब्द यह है कि "दंड प्रक्रिया संहिता में किसी बात के होते हुए....." । इसलिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(2) के उपबंधों को विचार में लाए बिना, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश को चुनौती देने पर प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष अपील लंबित रहते हुए, अपील न्यायालय को अपील लंबित रहते हुए अपीलार्थी को ऐसी राशि जमा करने का निदेश देने की शक्ति प्रदत्त की गई है जो विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत जुर्माने या प्रतिकर का न्यूनतम 20 प्रतिशत होगी ।

उपरोक्त को दृष्टि में रखते हुए और इसमें ऊपर उल्लिखित कारणों से, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश में किसी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है ।

11. इस प्रक्रम पर, अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता ने अपीलार्थियों को प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित आदेश, जिसकी उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि की गई है, के अनुसार रकम जमा करने के लिए कुछ और समय (तीन माह का समय) प्रदान करने का अनुरोध किया । मूल परिवादी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् अधिवक्ता द्वारा उक्त प्रार्थना का विरोध किया गया । यह दलील दी गई कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की संशोधित धारा 148 के अनुसार, अपीलार्थी-अभियुक्तों को अपील न्यायालय द्वारा यथा

निदेशित प्रतिकर/जुर्माने की रकम 60 दिन की अवधि के भीतर जमा करनी होती है जो अपीलार्थियों द्वारा पर्याप्त कारण दर्शित करने पर, जैसा कि न्यायालय द्वारा निदेशित किया जाए, 30 दिन की अतिरिक्त अवधि के लिए विस्तारित की जा सकती है । तथापि, इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में और इस तथ्य पर विचार करते हुए कि अपीलार्थी इस न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित आदेश को चुनौती देते हुए सद्भावी रूप से मुकदमा लड़ रहे हैं, भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए और मामले के विलक्षण तथ्यों और परिस्थितियों में तथा जमा की जाने वाली रकम एक बड़ी रकम है, हम अपीलार्थियों का प्रथम अपील न्यायालय द्वारा यथा निदेशित, जिसकी अभिपुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा और इस न्यायालय द्वारा भी की गई है, जमा करने के लिए आज से अतिरिक्त चार सप्ताह का समय प्रदान करते हैं ।

12. उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए और ऊपर उल्लिखित कारणों से, हमें उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन/आवेदनों को खारिज करते हुए और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा अपीलार्थियों को अपीलें लंबित रहते हुए जुर्माने/प्रतिकर की रकम का 25 प्रतिशत जमा करने का निदेश देते हुए पारित आदेश की पुष्टि करते हुए पारित आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश में हस्तक्षेप करने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता है ।

तद्नुसार, प्रस्तुत अपीलें पूर्वोक्त मताभिव्यक्तियों के साथ खारिज की जाती हैं और अपीलार्थियों को अब प्रथम अपील न्यायालय द्वारा निदेशित रकम आज से चार सप्ताह की विस्तारित अवधि के भीतर जमा करने का निदेश दिया जाता है ।

अपीलें खारिज की गईं ।

जस.

[2019] 4 उम. नि. प. 238

आर. एस. अंजाया गुप्ता

बनाम

तिप्पैया सेट्टी

[2009 की सिविल सं. 7418]

1 जुलाई, 2019

न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर और न्यायमूर्ति अजय रस्तोगी

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 एवं आदेश 41 का नियम 31 और हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956] – अपील – वाद संपत्ति का क्रय – वाद संपत्ति का क्रय, संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब निधि से और साथ ही स्व-अर्जित निधि से किए जाने का दावा करना – आक्षेप – उत्तराधिकार का निर्धारण – यदि अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह साबित कर दिया जाता है कि वाद संपत्ति का क्रय संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब निधि से किया गया है न कि स्व-अर्जित निधि से किया गया है तो उस संपत्ति में उत्तराधिकारियों के स्वत्व, हक और अधिकारों का निर्धारण, संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब को लागू विधि के अनुसार ही किया जाएगा न कि स्व-अर्जित निधि से क्रय संपत्ति को लागू उत्तराधिकार विधि के अनुसार किया जाएगा ।

वर्तमान अपील में, पक्षकार मूल प्रतिवादी सं. 3-कुटुम्ब का कुलपति, हनुमंतईया सेट्टी के बच्चे हैं । अपीलार्थी बड़ा पुत्र है जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 और प्रत्यर्थी सं. 2 उसके छोटे भाई हैं । प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 हनुमंतईया सेट्टी की पुत्रियां हैं और इस प्रकार वे अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 की बहिनें हैं । विचारण न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों के दौरान जब हनुमंतईया सेट्टी की मृत्यु हो गई तो उसके पश्चात् प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 उसके विधिक प्रतिनिधिगण के रूप में अभिलेख पर आए थे । यह अपील, प्रत्यर्थी सं. 1 (मूल वादी) द्वारा अपीलार्थी (मूल प्रतिवादी सं. 1), प्रत्यर्थी सं. 2 (मूल प्रतिवादी सं. 2)

और मूल प्रतिवादी सं. 3 हनुमंतईया सेट्टी के विरुद्ध XXXI अपर सिटी सिविल न्यायाधीश, बंगलौर के समक्ष फाइल 1982 की मूल वाद सं. 1300 में कतिपय संपत्तियों का बंटवारा करने के लिए वाद से उद्भूत हुआ है । प्रत्यर्थी सं. 1 ने वाद के अन्य पक्षकारों को समाविष्ट करते हुए, संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब का एक सदस्य होने का दावा करते हुए, यह अभिकथित किया कि अनुसूचित वाद संपत्तियां उक्त संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब से संबंधित हैं क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 – पिता ने संयुक्त कुटुम्ब निधियों से उन्हें क्रय किया था । प्रत्यर्थी सं. 1 का अभिवाक् यह था कि वादपत्र की अनुसूची ए और बी में उल्लिखित वाद संपत्तियां जब अपीलार्थी के नाम में प्रत्यक्ष तौर पर क्रय की गई थीं तब वह कुटुम्ब का एक ज्येष्ठतम सदस्य (प्रतिवादी सं. 3 के पश्चात्) था और सबसे बड़ा पुत्र भी था, तथापि, वास्तव में, उक्त संपत्तियां संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित थीं । प्रत्यर्थी सं. 1 ने यह भी प्राख्यान किया कि वाद संपत्तियां अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं. 2 और मूल प्रतिवादी सं. 3 के संयुक्त कब्जे में थीं और यह कि अपीलार्थी अवैध तौर पर उन्हें उससे बेकब्जा करने और उसके विभाजन में बाधा पहुंचाने की कोशिश कर रहा था, इसलिए, यह वाद फाइल करने की आवश्यता हुई । तद्नुसार, प्रत्यर्थी सं. 1 ने वाद संपत्तियों में 1/4 हिस्से और उसके संबंध में अंत:कालीन लाभों की ईप्सा की है । विचारण न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि ग्राम पंचायत ने पक्षकारों के बीच कतिपय संपत्तियों जिनमें वाद की अनुसूची ए और बी में उल्लिखित संपत्तियां सम्मिलित थीं, का पूर्व विभाजन पहले ही कर चुका था जो यह उपदर्शित करता है कि ऐसी संपत्तियां संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित थीं । पूर्वोक्त निष्कर्षों के आधार पर, विचारण न्यायालय ने यह आदेश दिया कि वाद अनुसूचित संपत्तियां पक्षकारों के बीच अपीलार्थी प्रत्यर्थी सं. 1 और प्रत्यर्थी सं. 2 को वाद अनुसूचित संपत्तियों में प्रत्येक को 5/12 हिस्सा देते हुए और प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 को वाद अनुसूचित संपत्तियों में प्रत्येक को 1/12 हिस्सा देते हुए विभाजित हुई थी । विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी सं. 1 को देय अंत:कालीन लाभों की जांच करने का भी आदेश दिया था । विचारण न्यायालय के विनिश्चय से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष 2002 की आरएफए सं. 456 के अधीन एक

अपील प्रस्तुत की । कर्नाटक उच्च न्यायालय ने तारीख 7 सितम्बर, 2004 के अपने निर्णय में यह अभिलिखित किया कि विवाद्यक मात्र वादपत्र के अनुसूची ए और बी में उल्लिखित संपत्तियों के संबंध में था और तद्नुसार, उस संबंध में विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को कायम रखा । उच्च न्यायालय ने वादी के इस दलील को उल्लिखित किया कि यद्यपि, संपत्तियां अपीलार्थी के नाम में क्रय की गई थीं फिर भी, उक्त क्रय संयुक्त कुटुम्ब प्रास्थिति की निरंतरता को कायम रखते हुए किए गए थे । संपत्तियों को ऋण की सहायता से क्रय किया गया था और उस पर ब्याज का संदाय स्वीकृततः मूल प्रतिवादी सं. 3 द्वारा संदत्त किया गया था न कि अपीलार्थी द्वारा । वाद अनुसूचित संपत्ति पर किए जा रहे कारबार की अनुज्ञप्ति प्रत्यर्थी सं. 2 के नाम में ली गई थी और पट्टा, मूल प्रतिवादी सं. 3 के नाम में लिया गया था जबकि अपीलार्थी मात्र कारबार का प्रबंध करता था । अपीलार्थी का तात्पर्यित कारबार वास्तव में, सभी पक्षकारों की ओर से संयुक्त रूप से किया जा रहा था और अपीलार्थी यह सिद्ध करने में असफल रहा कि या तो वह स्वतंत्र रूप से कोई कारबार कर रहा था या कि उसने कुटुम्ब निधियों के सहायता के बिना वाद अनुसूचित संपत्तियों को क्रय किया था । उसके बाद, उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि विचारण न्यायालय का निष्कर्ष न्यायसंगत और समुचित है और इस प्रकार अपीलार्थी की दलीलों को नामंजूर कर दिया, यद्यपि, अपीलार्थी को इस बात की जांच कराने के लिए विचारण न्यायालय के समक्ष जाने देने को मंजूर कर लिया कि क्या अन्य पक्षकारों द्वारा कृषिय भूमि का विक्रय अपीलार्थी पर आबद्धकर होगा और उस संबंध में कोई अन्य प्रारंभिक डिक्री पारित किया जाए, यदि आवश्यक हो । इसके पश्चात्, अपीलार्थी ने उसी उच्च न्यायालय के समक्ष 2005 की आरपी सं. 567 के अधीन एक पुनर्विलोकन आवेदन प्रस्तुत किया । उक्त पुनर्विलोकन आवेदन को तारीख 27 सितम्बर, 2006 को खारिज कर दिया गया था । अतएव, वर्तमान अपील फाइल की गई । न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय ने, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री शैलेश

मडियाल को सुना । श्री मडियाल की मुख्य दलील यह है कि उच्च न्यायालय ने प्रथम अपील को पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजी या मौखिक साक्ष्य पर चर्चा या विचार किए बिना सरसरी तौर पर खारिज कर दिया है । आगे, अपीलार्थी यह अभिवाक् करने और यह साबित करने में भी असफल रहा था कि संयुक्त कुटुम्ब की संचित निधि के अधीन संपत्तियों के कब्जे में था जिसके पास क्रमश:, अनुसूची ए और बी की संपत्तियों का क्रय करने के लिए पर्याप्त निधि थी । अतएव, इस मामले में, उक्त संपत्ति की संयुक्तता की उपधारणा नहीं की जा सकती है । उसके बाद यह तर्क दिया कि दोनों न्यायालय इस दुरूह साक्ष्य पर विचार करने में असफल रहे जो यह सिद्ध करता था कि अपीलार्थी ने अनुसूचित वाद संपत्तियों को क्रय करने के लिए स्वयं अपनी वैयक्तिक निधियों से धन संदत्त किया था और अतएव, वह उसका पूर्ण स्वामी हो गया था । उसने यह भी दलील दी कि विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी/मूल प्रतिवादी सं. 1 पर ऐसे संचित निधि की संपत्तियों के अस्तित्व और पर्याप्तता को सिद्ध करने का भार अधिरोपित करने में गंभीर त्रुटि कारित की है और उच्च न्यायालय को ऐसे निष्कर्ष का समर्थन नहीं करना चाहिए था । न्यायालय ने प्रत्यर्थी सं. 1 (वादी) के विद्वान् काउंसेल श्री राघवेन्द्र श्रीवास्तव को भी सुना जिन्होंने यह तर्क दिया कि अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह दर्शित होता है कि कुटुम्ब के सदस्य, अविभाजित संयुक्त कुटुम्ब के रूप में रह रहे थे और यह कि अनुसूचित वाद संपत्तियां विधिक सलाह पर अपीलार्थी के नाम में क्रय की गई थीं किन्तु वास्तव में, प्रतिफल रकम का संदाय संयुक्त कुटुम्ब निधियों से किया गया था । उसके बाद, उन्होंने यह दलील दी कि यह सुस्थिर विधि है कि जब एक बार यह स्वीकार या साबित कर दिया जाता है कि पर्याप्त संयुक्त कुटुम्ब संचित निधि थी जिसमें से संपत्तियां अर्जित की जा सकती थीं तो इसके पश्चात्, यह उपधारणा उद्भूत होगी कि संपत्तियां, संयुक्त कुटुम्ब की संपत्तियां हैं । इस मामले में, उसके बाद, विरोधी पक्षकार अपीलार्थी को यह साबित करना था कि उसने स्वयं अपनी निधियों से संपत्तियां अर्जित की थीं । वर्तमान मामले में, अनुसूचित वाद संपत्तियों से किए जा रहे कारबार से यह स्पष्टत: सिद्ध होता है कि इसे कुटुम्ब सदस्यों द्वारा चलाए जाने के नाते यह संयुक्त

कुटुम्ब कारबार के रूप में था और इसे संयुक्त कुटुम्ब निधियों से अर्जित किया गया था । अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं. 1/वादी द्वारा दिए गए साक्ष्य को चुनौती देने में असफल रहा और संयुक्त कुटुम्ब संचित निधि के अस्तित्व को प्रत्यर्थी सं. 1/मूल वादी द्वारा साबित कर दिया गया है और इसे अपीलार्थी/मूल प्रतिवादी सं. 1 द्वारा स्वीकार किया गया है । न्यायालय को इस तथ्य की जानकारी है कि वर्तमान मामले में, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वाद, पूर्व में वर्ष 1982 में फाइल किया गया था और यह कि उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय के विरुद्ध वर्तमान अपील वर्ष 2009 से इस न्यायालय के समक्ष लंबित है । न्यायालय, एक प्रक्रम पर, उच्च न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को हटाने के बजाय स्वयं इसके गुणागुणों पर मामले का विचार करने और इसकी परीक्षा करने के लिए सहमत थे । किन्तु, यह उल्लिखित किया गया कि अपीलार्थी ने तथ्यों के साथ ही विधि के निषिद्ध योग्य विवाद्यकों को उद्भूत किया है जिस पर उच्च न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए, प्रथम प्रेरणा पर ही समुचित ध्यान देना चाहिए था । अतिरिक्त तौर पर, उच्च न्यायालय को अपीलार्थी की इस शिकायत पर भी ध्यान देना चाहिए था कि दस्तावेजों में से कुछ दस्तावेज जो अपीलार्थी की राय में दुरूह थे, को भी प्रदर्शित नहीं किया गया है, यद्यपि, उन्हें विचारण के दौरान प्रस्तुत किया गया था जैसा कि अपीलार्थी द्वारा फाइल लिखित निवेदनों में उल्लिखित किया गया है । इसलिए, हम निर्णयज मामलों में इस न्यायालय की संगत राय से विचलित होने की इच्छा नहीं रखते हैं कि प्रथम अपील न्यायालय को संबंधित पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत संपूर्ण साक्ष्य का विश्लेषण करना चाहिए था और उसमें निहित अधिकारिता के समुचित भाव में अपनी राय अभिव्यक्त करना चाहिए था और व्याख्या करते हुए, विश्लेषण करते हुए, यह निष्कर्ष निकालना चाहिए था कि अपील गुणागुण रहित है । न्यायालय, प्रदर्शित दस्तावेजों के प्ररूप में अभिवचनों और साक्ष्यों का और जिनमें अप्रदर्शित दस्तावेज सम्मिलित हैं और इसके सिवाय कि जिसे उच्च न्यायालय द्वारा विचार में लेना चाहिए था और विधि में यथाअनुज्ञेय रूप से निष्कर्ष निकालना चाहिए था, विश्लेषण करने के लिए आबद्ध हैं । दूसरे शब्दों में, न्यायालय संविवाद के गुणागुणों पर

कोई भी राय अभिव्यक्त करना समुचित नहीं समझता है । उच्च न्यायालय, आक्षेपित निर्णय में अभिव्यक्त किए गए किसी भी मताभिव्यक्ति के प्रभाव में आए बिना प्रथम अपील का विनिश्चय करेगा । क्योंकि वर्ष 2002 में संबंधित प्रथम अपील को वापस भेजा गया था, इसलिए, यह न्यायालय, उच्च न्यायालय से उसे तत्परतापूर्वक निपटारा करने का निवेदन करता है । (पैरा 13, 14, 18 और 19)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2018] (2018) 1 एस. सी. सी. 604 (पैरा सं. 10-11, 13-18) :
सी. वेंकट स्वामी बनाम **एच. एन. शिवन्ना (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधि और एक अन्य** ; 13,17

[2017] (2017) 15 एस. सी. सी. 309 :
यू. मंजूनाथ राव बनाम **यू. चंद्रशेखर और अन्य** ; 15,17

[2016] (2016) 13 एस. सी. सी. 124 :
भारत संघ बनाम **के. वी. लक्ष्मण और अन्य** ; 17

[2011] (2011) 12 एस. सी. सी. 174 :
स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और एक अन्य बनाम **इम्मसंस इंटरनेशनल लिमिटेड और एक अन्य** ; 17

[2010] (2010) 13 एस. सी. सी. 530 (पैरा सं. 3 और 5) :
बी. वी. नागेश और एक अन्य बनाम **एच. वी. श्रीनिवास मूर्ति** ; 17

[2007] (2007) 1 एस. सी. सी. 521 (पैरा सं. 12-17) :
अप्पा साहेब पीरप्पा चमद्गाडे बनाम **देवेन्द्र पीरप्पा चमद्गाडे और अन्य** ; 13,15

[2005] (2005) 12 एस. सी. सी. 303 (पैरा सं. 2) :
जगन्नाथ बनाम **अरुलप्पा और एक अन्य** ; 17

[2005] (2005) 10 एस. सी. सी. 243 (पैरा सं. 3) :
एच. के. एन. स्वामी बनाम **इरशाद बासित**
(मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधिगण ; 17

[2001] (2001) 4 एस. सी. सी. 756 (पैरा सं. 5) :
मधुकर और अन्य बनाम **संग्राम और अन्य** ; 13,17

[2001] (2001) 3 एस. सी. सी. 179 (पैरा सं. 15) :
संतोष हजारी बनाम **पुरुषोत्तम तिवारी** ; 15,17

[1969] (1969) 1 एस. सी. सी. 386 (पैरा सं. 6) :
मूडी गौड़ा गौडप्पा संख बनाम **रामचन्द्र रावगौड़ा संख** ; 13

[1969] ए. आई. आर. 1969 केरल 316 :
कुरियन चाको बनाम **वर्की ऑसेफ** ; 17

[1968] ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 1276 (पैरा सं. 3) :
जी. नारायण राजू (मृत) मार्फत इसके
विधिक प्रतिनिधि बनाम **जी. चमराजू और अन्य** ; 13

[1968] [1968] 2 एस. सी. आर. 62 (पैरा सं. 4 और 5) :
वी. डी. धनवातेय बनाम
आय कर आयुक्त, मध्य प्रदेश, नागपुर ; 15

[1951] ए. आई. आर. 1951 एस. सी. 120 (पैरा सं. 15) :
सरजू प्रसाद राम देव साहू बनाम
ज्वालेश्वरी प्रताप नारायण सिंह और अन्य । 17

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2009 की सिविल सं. 7418.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री शैलेश मडियाल और सुधांशु प्रकाश, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री राघवेन्द्र एस. श्रीवत्स, पाई अमित और अभिजीत पी. मेध, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर ने दिया ।

न्या. खानविलकर – वर्तमान अपील, कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर द्वारा 2002 की आर. एफ. ए. सं. 456 में पारित तारीख 7 सितम्बर, 2004 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के इन निष्कर्षों को कायम रखा है कि वादपत्र के अनुसूचित ए और बी में वर्णित वाद संपत्तियां अपीलार्थी (प्रतिवादी सं. 1) द्वारा स्व-अर्जित नहीं है, अपितु इसके बजाय ये संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब से संबंधित है जिसका वह एक सदस्य था और इसलिए, वादी तथा प्रतिवादी सं. 1 और 2 वाद संपत्तियों में 5/12 हिस्से के समान रूप से हकदार हैं और प्रतिवादी सं. 3 (ए), (बी) और (सी) प्रत्येक वाद संपत्तियों में 1/24 हिस्से के हकदार हैं और इस प्रकार, इसे उक्त संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों के बीच विभाजित और आबंटित किया जा सकता है । तथापि, उच्च न्यायालय ने इस प्रश्न की जांच करने के लिए विचारण न्यायालय के समक्ष अपीलार्थी को जाने की स्वतंत्रता मंजूर कर दी थी कि क्या संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित कृषि भूमियों का विक्रय अपीलार्थी (प्रतिवादी सं. 1) पर आबद्धकर होगा और कोई अन्य प्रारंभिक डिक्री पारित कर सकता है, यदि आवश्यक हो । अपीलार्थी द्वारा तारीख 27 सितम्बर, 2006 को फाइल 2002 की पुनर्विलोकन आवेदन सं. 567 को नामंजूर करते हुए उच्च न्यायालय के निर्णय को भी आक्षेपित किया गया है ।

2. इस अपील के पक्षकार मूल प्रतिवादी सं. 3 – कुटुम्ब का कुलपति, हनुमंतईया सेट्टी के बच्चे हैं । अपीलार्थी बड़ा पुत्र है जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 और प्रत्यर्थी सं. 2 उसके छोटे भाई हैं । प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 हनुमंतईया सेट्टी की पुत्रियां हैं और इस प्रकार वे अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 की बहिनें हैं । विचारण न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों के दौरान जब हनुमंतईया सेट्टी की मृत्यु हो गई तो उसके पश्चात् प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 उसके विधिक प्रतिनिधिगण के रूप में अभिलेख पर आए थे ।

3. यह अपील, प्रत्यर्थी सं. 1 (मूल वादी) द्वारा अपीलार्थी (मूल प्रतिवादी सं. 1), प्रत्यर्थी सं. 2 (मूल प्रतिवादी सं. 2) और मूल प्रतिवादी

सं. 3 हनुमंतईया सेट्टी के विरुद्ध XXXI अपर सिटी सिविल न्यायाधीश, बंगलौर के समक्ष फाइल 1982 की मूल वाद सं. 1300 में कतिपय संपत्तियों का बंटवारा करने के लिए वाद से उद्भूत हुआ है । प्रत्यर्थी सं. 1 ने वाद के अन्य पक्षकारों को समाविष्ट करते हुए, संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब का एक सदस्य होने का दावा करते हुए, यह अभिकथित किया कि अनुसूचित वाद संपत्तियां उक्त संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब से संबंधित हैं क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 – पिता ने संयुक्त कुटुम्ब निधियों से उन्हें क्रय किया था । प्रत्यर्थी सं. 1 का अभिवाक् यह था कि वादपत्र की अनुसूची ए और बी में उल्लिखित वाद संपत्तियां जब अपीलार्थी के नाम में प्रत्यक्ष तौर पर क्रय की गई थीं तब वह कुटुम्ब का एक ज्येष्ठतम सदस्य (प्रतिवादी सं. 3 के पश्चात्) था और सबसे बड़ा पुत्र भी था, तथापि, वास्तव में, उक्त संपत्तियां संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित थीं । प्रत्यर्थी सं. 1 ने यह भी प्राख्यान किया कि वाद संपत्तियां अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं. 2 और मूल प्रतिवादी सं. 3 के संयुक्त कब्जे में थीं और यह कि अपीलार्थी अवैध तौर पर उन्हें उससे बेकब्जा करने और उसके विभाजन में बाधा पहुंचाने की कोशिश कर रहा था, इसलिए, यह वाद फाइल करने की आवश्यता हुई । तद्नुसार, प्रत्यर्थी सं. 1 ने वाद संपत्तियों में 1/4 हिस्से और उसके संबंध में अंत:कालीन लाभों की ईप्सा की है ।

4. मूल प्रतिवादी सं. 3 – पिता ने प्रत्यर्थी सं. 1/मूल वादी के आधार के समर्थन में, अपने लिखित कथन में यह दलील दी कि वाद संपत्तियां, संयुक्त कुटुम्ब के लिए और की ओर से क्रय की गई थीं और वे मात्र अपीलार्थी/मूल प्रतिवादी सं. 1 के नाम में क्रय की गई थीं क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 बंगलौर नहीं आ सकता था जहां प्रश्नगत संपत्तियां स्थित थीं और क्योंकि अपीलार्थी सबसे बड़ा पुत्र था और जिसे सभी लोग जानते थे । उसने इस बात से इनकार किया कि वाद संपत्तियां अपीलार्थी की स्व-अर्जित संपत्तियां थीं और यह निवेदन किया कि अपीलार्थी ने इस तथ्य का अनुचित लाभ उठाया कि संपत्तियां उसके नाम में क्रय की गई थीं । उसके बाद, उसने यह निवेदन किया कि उसके बच्चों अर्थात् अपीलार्थी तथा प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 का वाद

संपत्तियों में समान हिस्सा, अधिकार, हक और हित था । तद्नुसार, मूल प्रतिवादी सं. 3 ने इसमें के प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 (जो उक्त लिखित निवेदन फाइल करने के समय पर उसकी अविवाहित पुत्रियां थीं और वाद में पक्षकार के रूप में अभिवाचित नहीं की गई थीं) के लिए उपबंध करने के पश्चात् अपने बच्चों के बीच वाद संपत्तियों का विभाजन करने की ईप्सा की थी । प्रत्यर्थी सं. 2 (मूल प्रतिवादी सं. 2) ने प्रत्यर्थी सं. 1 और मूल प्रतिवादी सं. 3 के आधार का समर्थन किया और उसे दोहराया ।

5. इसके विपरीत, अपीलार्थी/मूल प्रतिवादी सं. 1 ने इस बात से इनकार किया कि वादपत्र के अनुसूची ए और बी में दर्शित संपत्तियों को संयुक्त कुटुम्ब निधियों से कुटुम्ब द्वारा क्रय की गई थीं अथवा यह कि वे संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब से संबंधित थीं और यह निवेदन किया कि वह उसका पूर्ण स्वामी है क्योंकि उसने उसे स्वयं अपनी निधियों और ऋणों से क्रय किया था । अपीलार्थी ने यह निवेदन किया कि वह क्रय करने की तारीख से उक्त संपत्तियों के अनन्य कब्जे और उपभोग में था और उसके साथ उसके संव्यवहार में किसी अवैधता का प्रश्न ही नहीं उठता है । अपीलार्थी ने यह भी निवेदन किया कि उक्त संपत्तियों में से एक पर निर्मित दुकान उसके द्वारा चलाई जा रही थी जिसे प्रत्यर्थी सं. 2 और मूल प्रतिवादी सं. 3 को विक्रय कर दिया था और यह कि वह उस विक्रय प्रतिफल का हकदार था । अतिरिक्त तौर पर, अपीलार्थी, मूल प्रतिवादी सं. 3 – पिता की कतिपय अन्य पैतृक संपत्ति में 1/4 हिस्से का हकदार था । अपीलार्थी ने एक अतिरिक्त लिखित कथन भी फाइल किया जिसमें उसने यह अभिकथित किया कि कतिपय कुटुम्ब संपत्तियों का सआशय घृणित प्रयोजनों के लिए वादपत्र से लोप कर दिया गया था ।

6. उपर्युक्त अभिवचनों के आधर पर विचारण न्यायालय ने निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए :–

> "7. पक्षकारों के अभिवचनों के आधार पर निम्नलिखित विचारक विरचित किए गए हैं –
>
> (i) क्या वादी और प्रतिवादी, हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब के

सदस्य हैं ?

(ii) क्या वाद अनुसूचित संपत्तियों को प्रतिवादी सं. 3 द्वारा संयुक्त कुटुम्ब निधियों से प्रतिवादी सं. 1 के नाम में क्रय की गई हैं ?

(iii) क्या वादी उस हिस्से का हकदार है, जैसा कि वादपत्र अनुसूचित संपत्तियों में दावा किया है ?

(iv) क्या वाद संपत्तियां, प्रतिवादी सं. 1 की स्व-अर्जित संपत्तियां हैं ?

(v) क्या आदेश या डिक्री पारित किया जाना चाहिए ?

अतिरिक्त विवाद्यक सं. 2क – क्या वाद संपत्तियां, वादी और प्रतिवादियों की संयुक्त कुटुम्ब संपत्तियां हैं ?

7. मामला लंबित रहने के दौरान मूल प्रतिवादी सं. 3 की मृत्यु हो गई और वर्तमान प्रतिवादी सं. 3 से 5 पुत्रियां हैं जिन्हें उसके विधिक प्रतिनिधियों के रूप में अभिलेख पर लाया गया था । इसके पश्चात्, विचारण न्यायालय ने तारीख 30 जनवरी, 2002 को अपना निर्णय दिया जिसमें उसने सभी विवाद्यकों पर प्रत्यर्थी सं. 1/मूल प्रतिवादी के पक्ष में निष्कर्ष निकाला था । विचारण न्यायालय की यह राय थी कि अपीलार्थी ने संयुक्त कुटुम्ब से किसी विभाजन या पृथक्करण का दावा नहीं किया था और वस्तुतः, उसने मूल प्रतिवादी सं. 3 की कतिपय अन्य पैतृक संपत्तियों में 1/4 हिस्से का दावा किया था । यह इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त था कि पक्षकार अर्थात् अपीलार्थी (मूल प्रतिवादी सं. 1), प्रत्यर्थी सं. 1 (मूल वादी), प्रत्यर्थी सं. 2 (मूल प्रतिवादी सं. 2) और मूल प्रतिवादी सं. 3 हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित थे ।

8. विचारण न्यायालय ने विभिन्न निर्णयों का अवलंब लेते हुए, यह राय व्यक्त की कि जब एक बार वाद संपत्तियों का अर्जन संयुक्त कुटुम्ब का संचित निधि होना स्वीकार या साबित कर दिया जाता है तो इसके पश्चात् संयुक्त कुटुम्ब के अन्य सदस्य द्वारा अर्जित संपत्ति उस संयुक्त कुटुम्ब संपत्ति की संपत्तियां समझी जाएंगी, इस शर्त के अध्यधीन की अर्जित संपत्ति ऐसी संपत्ति थी कि उस संपत्ति को

कुटुम्ब के उद्देश्य मात्र के लिए ही अर्जित की जा सकती थी । इसका कारण यह है कि वाद संपत्तियों का अर्जन संयुक्त कुटुम्ब की संचित निधि की संपत्ति सिद्ध होने के पश्चात् सबूत का भार उस व्यक्ति पर चला जाता है जो यह दावा करता है कि ऐसी संपत्ति उसकी स्व-अर्जित संपत्ति है, उसे यह साबित करना होता है कि ऐसी संपत्ति कुटुम्ब की किसी सहायता के बिना उसके द्वारा अर्जित की गई थी । विचारण न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि अभिलेख पर के साक्ष्यों से संयुक्त कुटुम्ब का अस्तित्व सिद्ध होता है और इसके पश्चात् अपीलार्थी-मूल प्रतिवादी सं. 1, इस भार का निर्वहन करने में असफल रहा कि वाद अनुसूचित संपत्तियां, स्व-अर्जित संपत्तियां थीं और यह साबित करने में भी असफल रहा कि उसका कारबार, जिसे वह कर रहा था जिससे उसने वाद अनुसूचित संपत्तियों को क्रय करने का दावा किया है वह कुटुम्ब निधियों की सहायता के बिना कर रहा था ।

9. विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी के इस दलील को भी नामंजूर कर दिया था कि वह प्रतिवादी साक्षी 3 अधिवक्ता के साक्ष्य का अवलंब लेते हुए अनुसूचित वाद संपत्तियों का एकमात्र स्वामी था । प्रतिवादी साक्ष्य 3 ने यह अभिसाक्ष्य दिया था कि उसने मूल प्रतिवादी सं. 3 को अपीलार्थी के नाम में उक्त संपत्तियों को क्रय करने की सलाह दी थी क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 बूढ़ा हो गया था और गांव में रहता था और क्योंकि पक्षकार, अविभाजित संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों के रूप में रह रहे थे । विचारण न्यायालय ने उस साक्ष्य का भी अवलंब लिया जो यह दर्शित करता था कि मूल प्रतिवादी सं. 3 ने अनुसूचित वाद संपत्तियों में से कुछ के लिए ऋण लिया था और उस संबंध में ब्याज संदत्त किया था । विचारण न्यायालय ने यह कारण दिया कि यदि अपीलार्थी वस्तुतः, संपत्तियों का पूर्ण और स्वतंत्र स्वामी था तो उसके बाद मूल प्रतिवादी सं. 3 को उक्त संपत्तियों के लिए कोई संदाय करने का कोई कारण नहीं बनता था । अतिरिक्त तौर पर, अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि अनुसूचित संपत्तियों पर किए जा रहे कारबार के लिए कतिपय किराया रसीदें वादी के पिता (मूल प्रतिवादी सं. 3) और अपीलार्थी मूल प्रतिवादी सं. 1 के नाम में जारी की गई थीं, इस प्रकार

यह साबित होता है कि वे संयुक्त कुटुम्ब कारबार में लगे हुए थे और न कि अपीलार्थी द्वारा स्वतंत्र तौर पर कारबार किया जा रहा था । विचारण न्यायालय ने यह भी उल्लिखित किया कि अपीलार्थी यह स्पष्टीकरण करने में असफल रहा कि क्यों मूल प्रतिवादी सं. 3 ने अन्य प्रत्यर्थियों द्वारा लिए गए आधार का समर्थन किया और न कि अपीलार्थी का । इन कारणों से यह सिद्ध होता है कि वाद अनुसूचित संपत्तियां संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित थीं न कि अपीलार्थी की थीं । अतिरिक्त तौर पर, वादपत्र के अनुसूची सी में उल्लिखित संपत्तियां स्वीकृत तौर पर संयुक्त कुटुम्ब की संपत्तियां थीं ।

10. विचारण न्यायालय ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि ग्राम पंचायत ने पक्षकारों के बीच कतिपय संपत्तियों जिनमें वाद की अनुसूची ए और बी में उल्लिखित संपत्तियां सम्मिलित थीं, का पूर्व विभाजन पहले ही कर चुका था जो यह उपदर्शित करता है कि ऐसी संपत्तियां संयुक्त कुटुम्ब से संबंधित थीं । पूर्वोक्त निष्कर्षों के आधार पर, विचारण न्यायालय ने यह आदेश दिया कि वाद अनुसूचित संपत्तियां पक्षकारों के बीच अपीलार्थी प्रत्यर्थी सं. 1 और प्रत्यर्थी सं. 2 को वाद अनुसूचित संपत्तियों में प्रत्येक को 5/12 हिस्सा देते हुए और प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 को वाद अनुसूचित संपत्तियों में प्रत्येक को 1/12 हिस्सा देते हुए विभाजित हुई थीं । विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी सं. 1 को देय अंत:कालीन लाभों की जांच करने का भी आदेश दिया था ।

11. विचारण न्यायालय के विनिश्चय से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष 2002 की आरएफए सं. 456 के अधीन एक अपील प्रस्तुत की । कर्नाटक उच्च न्यायालय ने तारीख 7 सितम्बर, 2004 के अपने निर्णय में यह अभिलिखित किया कि विवाद्यक मात्र वादपत्र के अनुसूची ए और बी में उल्लिखित संपत्तियों के संबंध में था और तद्नुसार, उस संबंध में विचारण न्यायालय के निष्कर्षों को कायम रखा । उच्च न्यायालय ने वादी के इस दलील को उल्लिखित किया कि यद्यपि, संपत्तियां अपीलार्थी के नाम में क्रय की गई थीं फिर भी, उक्त क्रय संयुक्त कुटुम्ब प्रास्थिति की निरंतरता को कायम रखते हुए किए गए थे । संपत्तियों को ऋण की सहायता से क्रय

किया गया था और उस पर ब्याज का संदाय स्वीकृतत: मूल प्रतिवादी सं. 3 द्वारा संदत्त किया गया था न कि अपीलार्थी द्वारा । वाद अनुसूचित संपत्ति पर किए जा रहे कारबार की अनुज्ञप्ति प्रत्यर्थी सं. 2 के नाम में ली गई थी और पट्टा, मूल प्रतिवादी सं. 3 के नाम में लिया गया था जबकि अपीलार्थी मात्र कारबार का प्रबंध करता था । अपीलार्थी का तात्पर्यित कारबार वास्तव में, सभी पक्षकारों की ओर से संयुक्त रूप से किया जा रहा था और अपीलार्थी यह सिद्ध करने में असफल रहा कि या तो वह स्वतंत्र रूप से कोई कारबार कर रहा था या कि उसने कुटुम्ब निधियों की सहायता के बिना वाद अनुसूचित संपत्तियों को क्रय किया था । उसके बाद, उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि विचारण न्यायालय का निष्कर्ष न्यायसंगत और समुचित है और इस प्रकार अपीलार्थी की दलीलों को नामंजूर कर दिया, यद्यपि, अपीलार्थी को इस बात की जांच कराने के लिए विचारण न्यायालय के समक्ष जाने देने को मंजूर कर लिया कि क्या अन्य पक्षकारों द्वारा कृषिय भूमि का विक्रय अपीलार्थी पर आबद्धकर होगा और उस संबंध में कोई अन्य प्रारंभिक डिक्री पारित किया जाए, यदि आवश्यक हो ।

12. इसके पश्चात्, अपीलार्थी ने उसी उच्च न्यायालय के समक्ष 2005 की आरपी सं. 567 के अधीन एक पुनर्विलोकन आवेदन प्रस्तुत किया । उक्त पुनर्विलोकन आवेदन को तारीख 27 सितम्बर, 2006 को खारिज कर दिया गया था । अतएव, वर्तमान अपील फाइल की गई ।

13. हमने, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री शैलेश मडियाल को सुना । श्री मडियाल की मुख्य दलील यह है कि उच्च न्यायालय ने प्रथम अपील को पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजी या मौखिक साक्ष्य पर चर्चा या विचार किए बिना सरसरी तौर पर खारिज कर दिया है । आगे, अपीलार्थी यह अभिवाक् करने और यह साबित करने में भी असफल रहा था कि संयुक्त कुटुम्ब की संचित निधि के अधीन संपत्तियों के कब्जे में था जिसके पास क्रमश:, अनुसूची ए और बी की संपत्तियों का क्रय करने के लिए पर्याप्त निधि थी । अतएव, इस मामले में, उक्त संपत्ति की संयुक्तता की उपधारणा नहीं की जा सकती है । उसके बाद यह तर्क दिया कि दोनों न्यायालय इस दुरूह साक्ष्य पर विचार करने में असफल

रहे जो यह सिद्ध करता था कि अपीलार्थी ने अनुसूचित वाद संपत्तियों को क्रय करने के लिए स्वयं अपनी वैयक्तिक निधियों से धन संदत्त किया था और अतएव, वह उसका पूर्ण स्वामी हो गया था । उसने यह भी दलील दी कि विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी/मूल प्रतिवादी सं. 1 पर ऐसे संचित निधि की संपत्तियों के अस्तित्व और पर्याप्तता को सिद्ध करने का भार अधिरोपित करने में गंभीर त्रुटि कारित की है और उच्च न्यायालय को ऐसे निष्कर्ष का समर्थन नहीं करना चाहिए था । श्री मडियाल ने अपने निवेदनों के समर्थन में **सी. वेंकट स्वामी** बनाम **एच. एन. शिवन्ना (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधि और एक अन्य**[1], **मधुकर और अन्य** बनाम **संग्राम और अन्य**[2], **मूडी गौड़ा गौडप्पा संख** बनाम **रामचन्द्र रावगौड़ा संख**[3], **जी. नारायण राजू (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधि** बनाम **जी. चमराजू और अन्य**[4] तथा **अप्पा साहेब पीरप्पा चमद्गाडे** बनाम **देवेन्द्र पीरप्पा चमद्गाडे और अन्य**[5] वाले मामलों को निर्दिष्ट किया ।

14. हमने, प्रत्यर्थी सं. 1 (वादी) के विद्वान् काउंसेल श्री राघवेन्द्र श्रीवास्तव को भी सुना जिन्होंने यह तर्क दिया कि अभिलेख पर के साक्ष्यों से यह दर्शित होता है कि कुटुम्ब के सदस्य, अविभाजित संयुक्त कुटुम्ब के रूप में रह रहे थे और यह कि अनुसूचित वाद संपत्तियां विधिक सलाह पर अपीलार्थी के नाम में क्रय की गई थीं किन्तु वास्तव में, प्रतिफल रकम का संदाय संयुक्त कुटुम्ब निधियों से किया गया था । उसके बाद, उन्होंने यह दलील दी कि यह सुस्थिर विधि है कि जब एक बार यह स्वीकार या साबित कर दिया जाता है कि पर्याप्त संयुक्त कुटुम्ब संचित निधि थी जिसमें से संपत्तियां अर्जित की जा सकती थीं तो इसके पश्चात्, यह उपधारणा उद्भूत होगी कि संपत्तियां, संयुक्त कुटुम्ब की संपत्तियां हैं । इस मामले में, उसके बाद, विरोधी पक्षकार

---

[1] (2018) 1 एस. सी. सी. 604 (पैरा सं. 10-11, 13-18).

[2] (2001) 4 एस. सी. सी. 756 (पैरा सं. 5).

[3] (1969) 1 एस. सी. सी. 386 (पैरा सं. 6).

[4] ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 1276 (पैरा सं. 3).

[5] (2007) 1 एस. सी. सी. 521 (पैरा सं. 12-17).

अपीलार्थी को यह साबित करना था कि उसने स्वयं अपनी निधियों से संपत्तियां अर्जित की थीं । वर्तमान मामले में, अनुसूचित वाद संपत्तियों से किए जा रहे कारबार से यह स्पष्टत: सिद्ध होता है कि इसे कुटुम्ब सदस्यों द्वारा चलाए जाने के नाते यह संयुक्त कुटुम्ब कारबार के रूप में था और इसे संयुक्त कुटुम्ब निधियों से अर्जित किया गया था । अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं. 1/वादी द्वारा दिए गए साक्ष्य को चुनौती देने में असफल रहा और संयुक्त कुटुम्ब संचित निधि के अस्तित्व को प्रत्यर्थी सं. 1/मूल वादी द्वारा साबित कर दिया गया है और इसे अपीलार्थी/मूल प्रतिवादी सं. 1 द्वारा स्वीकार किया गया है ।

15. प्रत्यर्थियों ने **अप्पा साहेब पीरप्पा चमद्गादे** (उपर्युक्त) वाले मामले का अवलंब लिया है, इस निवेदन के समर्थन में कि जब यह साबित या स्वीकार कर लिया जाता है कि कुटुम्ब के पास पर्याप्त संचित निधि है जिसकी सहायता से सदस्य ने अर्जन किया है तो विधि में यह उपधारणा की जाती है कि वह एक संयुक्त कुटुम्ब संपत्ति है और यह सिद्ध करने का भार उस वैयक्तिक सदस्य के ऊपर स्थानांतरित हो जाता है कि संपत्ति को उक्त संचित निधि की सहायता के बिना उसके द्वारा स्वयं अर्जित की गई है । अतिरिक्त तौर पर, उसी प्रतिपादना के लिए **वी. डी. धनवातेय** बनाम **आय कर आयुक्त, मध्य प्रदेश, नागपुर**[1] वाले मामले का अवलंब लिया गया है । तर्कों का खंडन करते हुए, उच्च न्यायालय ने सुसंगत मुद्दों और अभिलेख पर के साक्ष्यों का उल्लेख किए बिना प्रथम अपील को सरसरी तौर पर खारिज कर दिया था, प्रत्यर्थियों द्वारा यह तर्क दिया गया कि उच्च न्यायालय ने सुसंगत पहलुओं को उल्लिखित करने के पश्चात् विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित तथ्य के निष्कर्ष से संतुष्ट होते हुए इस बात को कायम रखा कि वह न्यायसंगत और समुचित था । उच्च न्यायालय के लिए यह अनावश्यक था कि वह साक्ष्य के प्रभाव का पुन: कथन करे या विचारण न्यायालय द्वारा दिए कारणों को पुन: दोहराए जैसा कि **संतोष हजारी** बनाम **पुरुषोत्तम तिवारी**[2] और **यू. मंजूनाथ राव** बनाम **यू. चंद्रशेखर और अन्य**[3]

---

[1] [1968] 2 एस. सी. आर. 62 (पैरा सं. 4 और 5).

[2] (2001) 3 एस. सी. सी. 179 (पैरा सं. 15).

[3] (2017) 15 एस. सी. सी. 309.

वाले मामलों में तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा मत व्यक्त किया गया है ।

16. क्रमशः, विद्वान् काउंसेल द्वारा विस्तृत तर्कों के दौरान किए गए विरोधी निवेदनों पर विचार करने के पश्चात् और जिन्होंने हमारा ध्यान अभिवचनों और अभिलेख पर के साक्ष्यों की ओर दिलाया था, हम, पक्षकारों को प्रथम अपील में नए सिरे से विचार करने के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष भेजना समुचित समझते हैं । हम ऐसा एक से अधिक कारणों से कह सकते हैं । प्रथम यह है कि उच्च न्यायालय ने प्रथम अपील का निपटारा रहस्यमयी निर्णय द्वारा किया है । आक्षेपित निर्णय का प्रथम पांच पैरा मात्र संबंधित पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल द्वारा किए गए निवेदनों को पुनः प्रस्तुत करने से संबंधित है । ऐसा करने के पश्चात् आक्षेपित निर्णय के पैरा 6 में उच्च न्यायालय ने सीधे-सीधे विचारण न्यायालय की इस राय की पुष्टि कर दी कि वाद संपत्तियां जो वादपत्र के अनुसूची ए और अनुसूची बी के भाग हैं, संयुक्त कुटुम्ब संपत्तियां हैं । यह पुनः प्रस्तुत पैरा 6 और 7 के विपरीत है जिसके द्वारा प्रथम अपील का निपटारा किया गया है । जो इस प्रकार है :–

> "6. मैं अपील में गुणागुण नहीं पाता हूं जहां तक कि यह ए और बी में अनुसूचित संपत्तियों का संबंध है । विचारण न्यायालय की यह राय कि वे संयुक्त कुटुम्ब संपत्तियां हैं, ठीक और समुचित है । किन्तु, प्रतिवादी सं. 3 और वादी द्वारा किए गए कृषिय भूमियों के विक्रय के संबंध में हमारा यह निष्कर्ष है कि अपीलार्थी को विचारण न्यायालय के समक्ष एक अन्य आवेदन इस बात की जांच कराने के लिए देना चाहिए कि क्या आक्षेपित विक्रय अपीलार्थी पर आबद्धकर होगा । उस सीमा तक अपीलार्थी विचारण न्यायालय के समक्ष एक अन्य प्रारंभिक डिक्री के अपने उपचार के लिए आवेदन कर सकता है ।
>
> 7. जहां तक ए और बी अनुसूचित संपत्तियों के संबंध में विचारण न्यायालय के निष्कर्ष का संबंध है, वह ठीक और समुचित है, तद्नुसार, अपील निपटाई जाती है ।"

17. **यू. मंजूनाथ राव** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय के नवीनतम विनिश्चय में, न्यायालय ने **संतोष हजारी** (उपर्युक्त), **सरजू प्रसाद राम देव साहू** बनाम **ज्वालेश्वरी प्रताप नारायण सिंह और अन्य**[1], **मधुकर** (उपर्युक्त), **एच. के. एन. स्वामी** बनाम **इरशाद बासित (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधिगण**[2] और **स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और एक अन्य** बनाम **इम्मसंस इंटरनेशनल लिमिटेड और एक अन्य**[3] वाले मामलों को उल्लिखित करने के पश्चात् निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

> "11. ..... इस प्रकार, प्रथम अपील में पक्षकारों को दोनों अर्थात् तथ्यों के साथ विधि के प्रश्नों पर सुने जाने का अधिकार होता है और प्रथम अपील न्यायालय से सभी पहलुओं पर विचार करने और लेखबद्ध कारणों द्वारा मामले का विनिश्चय करने की अपेक्षा होती है ।"

12. इस संदर्भ में, हम लाभप्रद रूप से सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 41 के नियम 31 के प्रति निर्देश कर सकते हैं, जो निम्नलिखित है :–

आदेश 41

मूल डिक्रियों की अपीलें

31. **निर्णय की अन्तर्वस्तु, तारीख और हस्ताक्षर** – अपील न्यायालय का निर्णय लिखित होगा और उसमें –

(क) अवधार्य प्रश्न ;

(ख) उन पर विनिश्चय ;

(ग) विनिश्चय के लिए कारण ; तथा

(घ) जहां वह डिक्री जिसकी अपील की गई है उलट दी जाती है या उसमें फेरफार किया जाता है वहां वह अनुतोष जिसका अपीलार्थी हकदार है, कथित होगा,

---

[1] ए. आई. आर. 1951 एस. सी. 120 (पैरा सं. 15).

[2] (2005) 10 एस. सी. सी. 243 (पैरा सं. 3).

[3] (2011) 12 एस. सी. सी. 174.

और वह न्यायाधीश द्वारा या उसमें सहमत न्यायाधीशों द्वारा उस समय जब वह सुनाया जाए, हस्ताक्षरित और दिनांकित किया जाएगा ।

13. उक्त नियम का परिशीलन करने पर यह नितांत स्पष्ट होता है कि अपील न्यायालय के निर्णय में विनिश्चय के लिए कारण कथित होता है । यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रथम अपील न्यायालय का दृष्टिकोण विचारण न्यायालय के निर्णय की पुष्टि और उसे उलटते समय, इस न्यायालय के निर्णयों के अनुसार विभिन्न मानकों पर आधारित होता है । **गिरजानंदनी देवी** ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 1124 वाले मामले में, न्यायालय ने यह निर्णयज विधि विहित की है कि साक्ष्यों के आधार पर विचारण न्यायालय के मत से सहमत होते हुए, साक्ष्य के प्रभाव का पुन: कथन करना या विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए कारणों को पुन: दोहराना आवश्यक नहीं है । विचारण न्यायालय के निर्णय, जो अपील के अधीन है, में विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए कारणों से साधारण तौर पर सहमत होने की अभिव्यक्ति साधारण तौर पर पर्याप्त होनी चाहिए । इसे **संतोष हजारी** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की एक अन्य न्यायपीठ द्वारा स्वीकार किया गया है । तथापि, विधि कथित करते समय न्यायालय की यह राय थी कि अपील के अधीन निर्णय में अभिलिखित निष्कर्षों के साथ साधारण सहमत होने की अभिव्यक्ति, अपील न्यायालय पर अधिरोपित कर्तव्य को स्वीकार करते समय कोई युक्ति या छद्यावरण नहीं होना चाहिए । हमारा यह विचार है कि उक्त राय की अभिव्यक्ति को समुचित परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए । इस बात की कोई कल्पना नहीं की जा सकती कि यह कथित किया जा सके कि प्रथम अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्णय को अक्षरश: उद्धृत करना चाहिए और इसके पश्चात् कुछ शब्दों को उल्लिखित करते और यह मत व्यक्त करना चाहिए कि विचारण न्यायालय के निर्णय से भिन्न कोई कारण नहीं है । यह न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त विधि का कथन नहीं है । **संतोष**

हजारी (उपर्युक्त) वाले मामले में, विधि का कथन विवेक में उद्भूत होना चाहिए ।

14. इस संबंध में, आशा देवी **बनाम** दुखी साव (1974) 2 एस. सी. सी. 492 वाले मामले में तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ के विनिश्चय का उल्लेख करना उपयुक्त है, यद्यपि, संदर्भ भिन्न था । उक्त मामले में, प्रथम अपील में एकल न्यायाधीश के निर्णय से लेटर्स पेटेंट अपील की सुनवाई करने की खंड न्यायपीठ की शक्तियों के बारे में प्रश्न उद्भूत हुआ था । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि लेटर्स पेटेंट अपील में दोनों तथ्य और विधि के प्रश्नों पर सुनवाई हो सकती है । उक्त विनिश्चय को निर्दिष्ट करने का प्रयोजन मात्र यह दर्शित करना है कि जब लेटर्स पेटेंट अपील फाइल की जाती है तो यह विधि के प्रश्नों तक निर्बंधित नहीं होता है । अपीलार्थी, तथ्यों और साक्ष्यों के मूल्यांकन से संबंधित विवाद्यकों को उद्भूत कर सकता है । यह इस तथ्य को दर्शित करते हैं कि प्रथम अपील न्यायालय की एक सुनिश्चित भूमिका होती है और इसके निर्णय में विवेक लागू होना दर्शित होना चाहिए और वह कारण दर्शित होना चाहिए जिस पर वह विचारण न्यायालय से सहमत हुआ है । उक्त वाक्य का समुचित भाव 'राय की अभिव्यक्ति' होती है । यह नहीं कहा जा सकता है कि मात्र सहमति होने से ही विधि की अपेक्षाएं पूरी हो जाती हैं । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस बारे में एक चीज कही जा सकती है कि अपील, बिना सार के है और यह किसी चीज की व्याख्या, विश्लेषण करता है और यह निष्कर्ष निकालता है कि अपील, गुणागुण रहित है ।"

सी. वेंकट स्वामी (उपर्युक्त) वाले एक अन्य नवीनतम विनिश्चय में, एक बार पुन: इस न्यायालय ने **कुरियन चाको** बनाम **वर्की ऑसेफ**[1], **संतोष हजारी** (उपर्युक्त), **एच. के. एन. स्वामी** (उपर्युक्त), **जगन्नाथ** बनाम

[1] ए. आई. आर. 1969 केरल 316.

अरुलप्पा और एक अन्य[1], **बी. वी. नागेश और एक अन्य** बनाम **एच. वी. श्रीनिवास मूर्ति**[2], **एस. बी. आई.** (उपर्युक्त) तथा **भारत संघ** बनाम **के. वी. लक्ष्मण और अन्य**[3] वाले मामलों का उल्लेख करते हुए, प्रथम अपील विनिश्चित करते समय सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन अपील न्यायालय पर अधिरोपित कर्तव्य के साथ शक्तियों के संबंध में सुस्थिर विधिक प्रतिपादना को दोहराया है ।

18. हमें, इस तथ्य की जानकारी है कि वर्तमान मामले में, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वाद, पूर्व में वर्ष 1982 में फाइल किया गया था और यह कि उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय के विरुद्ध वर्तमान अपील वर्ष 2009 से इस न्यायालय के समक्ष लंबित है । हम एक प्रक्रम पर, उच्च न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को हटाने के बजाय स्वयं इसके गुणागुणों पर मामले का विचार करने और इसकी परीक्षा करने के लिए सहमत थे । किन्तु, यह उल्लिखित किया गया कि अपीलार्थी ने तथ्यों के साथ ही विधि के निषिद्ध योग्य विवाद्यकों को उद्भूत किया है जिस पर उच्च न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए, प्रथम प्रेरणा पर ही समुचित ध्यान देना चाहिए था । अतिरिक्त तौर पर, उच्च न्यायालय को अपीलार्थी की इस शिकायत पर भी ध्यान देना चाहिए था कि दस्तावेजों में से कुछ दस्तावेज जो अपीलार्थी की राय में दुरूह थे, को भी प्रदर्शित नहीं किया गया है, यद्यपि, उन्हें विचारण के दौरान प्रस्तुत किया गया था जैसा कि अपीलार्थी द्वारा फाइल लिखित निवेदनों में उल्लिखित किया गया है । इसलिए, हम निर्णयज मामलों में इस न्यायालय की संगत राय से विचलित होने की इच्छा नहीं रखते हैं कि प्रथम अपील न्यायालय को संबंधित पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत संपूर्ण साक्ष्य का विश्लेषण करना चाहिए था और उसमें निहित अधिकारिता के समुचित भाव में अपनी राय अभिव्यक्त करना चाहिए था और व्याख्या करते हुए, विश्लेषण करते हुए, यह निष्कर्ष निकालना चाहिए था कि अपील गुणागुण रहित है ।

---

[1] (2005) 12 एस. सी. सी. 303 (पैरा सं. 2).

[2] (2010) 13 एस. सी. सी. 530 (पैरा सं. 3 और 5).

[3] (2016) 13 एस. सी. सी. 124.

19. हम, प्रदर्शित दस्तावेजों के प्ररूप में अभिवचनों और साक्ष्यों का और जिनमें अप्रदर्शित दस्तावेज सम्मिलित हैं और इसके सिवाय कि जिसे उच्च न्यायालय द्वारा विचार में लेना चाहिए था और विधि में यथाअनुज्ञेय रूप से निष्कर्ष निकालना चाहिए था, विश्लेषण करने के लिए आबद्ध हैं । दूसरे शब्दों में, हम संविवाद के गुणागुणों पर कोई भी राय अभिव्यक्त करना समुचित नहीं समझते हैं । उच्च न्यायालय, आक्षेपित निर्णय में अभिव्यक्त किए गए किसी भी मताभिव्यक्ति के प्रभाव में आए बिना प्रथम अपील का विनिश्चय करेगा । क्योंकि वर्ष 2002 में संबंधित प्रथम अपील को वापस भेजा गया था, इसलिए, हम उच्च न्यायालय से उसे तत्परतापूर्वक निपटारा करने का निवेदन करते हैं ।

20. तद्नुसार, अपीलें मंजूर की जाती हैं । कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर द्वारा पारित क्रमश: तारीख 7 सितम्बर, 2004 और तारीख 27 सितम्बर, 2006 के आक्षेपित निर्णय और डिक्री और आदेशों को अपास्त किया जाता है और इसके बजाय पूर्वोक्त उल्लिखित निर्देशों के साथ उच्च न्यायालय के पास 2002 की आर. एफ. सं. 456 को वापस भेजा जाता है । खर्चे का कोई आदेश नहीं किया जाता है । सभी लंबित आवेदन निपटाए जाते हैं ।

तद्नुसार, अपीलें निपटाई गईं ।

क.

[2019] 4 उम. नि. प. 260

फरेज जॉन अब्राहम (मृत) मार्फत विधिक प्रतिनिधिगण

बनाम

अरुल ज्योति शिव सुब्रमणियम् के. और अन्य

[2008 की सिविल अपील सं. 7207-7208]

2 जुलाई, 2019

न्यायमूर्ति एल. नागेश्वर राव और न्यायमूर्ति एम. आर. शाह

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 और भारतीय क्रिश्चियन विवाह अधिनियम, 1872] – अपील – क्रिश्चियन व्यक्ति की निर्वसियत मृत्यु – उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी संपत्ति के उत्तराधिकारी व्यक्तियों की शनाख्त और हक, अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण – यदि किसी क्रिश्चियन व्यक्ति की निर्वसीयत मृत्यु हो जाती है तो उसकी संपत्ति को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की शनाख्त और हक, अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण तत्समय प्रवृत्त क्रिश्चियन विधि के अनुसरण में ही किया जाएगा और उसकी संपत्ति में, प्रत्येक उत्तराधिकारियों के हिस्से का निर्धारण भी उसी विधि के अनुसरण में किया जाएगा जो तत्समय उस मृतक व्यक्ति को लागू होती थी ।

वर्तमान मामले में, जॉन डी. अब्राहम एक आनुवंशिक रोगी है । मूल प्रतिवादी सं. 1 उक्त जॉन डी. अब्राहम की पत्नी है । मूल प्रतिवादी सं. 2, प्रतिवादी सं. 3, ट्रिजा कल्याणी जॉन (मूल वादी सं. 1 की पत्नी) और स्व. मक्काबियस, आनुवंशिक रोगी के बच्चे हैं । उक्त वाद अनुसूचित गृह, आनुवंशिक रोगी की संपदा है । मूल प्रतिवादी सं. 1 – आनुवंशिक रोगी – जॉन डी. अब्राहम की पत्नी की वाद लंबित रहने के दौरान निर्वसीयत मृत्यु हो गई । आनुवंशिक रोगी की मृत्यु के पश्चात् उसकी पुत्री ट्रिजा कल्याणी जॉन ने मूल वादी सं. 1 जो एक हिन्दू था, के साथ विवाह कर लिया । सुसंगत समय पर, ट्रिजा कल्याणी जॉन – आनुवंशिक रोगी की पुत्री ने स्वयं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर लिया

और ए. एस. मीनाक्षी के रूप में अपना नाम परिवर्तित कर लिया । मूल वादी सं. 2 और 3, उक्त विवाह से उत्पन्न बच्चे हैं । ट्रिजा कल्याणी जॉन की मृत्यु वर्ष 1986 में हो गई । इसके पश्चात् और उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन की मृत्यु के पश्चात्, मूल वादियों – ट्रिजा कल्याणी जॉन का पति और उनके दो बच्चों ने वाद अनुसूचित संपत्ति के विभाजन और पृथक् कब्जे के लिए विद्वान् सिटी सिविल न्यायाधीश, बंगलौर के न्यायालय में 1987 की मूल वाद सं. 591 संस्थित की । मूल वादियों ने ट्रिजा कल्याणी जॉन (ए. एस. मीनाक्षी) के हिस्सों की ईप्सा करते हुए वाद फाइल की । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि आरंभत: वाद, मात्र दो प्रतिवादियों – जॉन डी. अब्राहम की पत्नी (प्रतिवादी सं. 1) और इसमें के अपीलार्थी – फरेज जॉन अब्राहम, स्व. जॉन डी. अब्राहम का पुत्र (प्रतिवादी सं. 2) के विरुद्ध ही फाइल की गई थी । वाद का संयुक्त लिखित कथन फाइल करते हुए प्रतिवादी सं. 1 और 2 द्वारा विरोध किया गया था । यह दलील दी गई थी कि जॉन डी. अब्राहम के अन्य पुत्र और पुत्री अर्थात् वसंती और मक्काबियस थे । यह दलील दी गई थी कि उक्त वसंती और मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम का पुष्पा के साथ अंतरंग संबंधों के कारण उत्पन्न हुए थे । यह निवेदन किया गया कि वे भी जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में हिस्से पाने के हकदार हैं । इसलिए, वाद को समुचित पक्षकारों के असंयोजन के आधार पर खारिज किए जाने के लिए निवेदन किया गया था । प्रतिवादी सं. 1 और 2 की ओर से यह भी दलील दी गई थी कि मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन क्रिश्चियन होते हुए भी कुटुम्ब के सदस्यों के इच्छा के विरुद्ध वादी सं. 1 – एक हिन्दू के साथ विवाह किया था । मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन ने यह मत व्यक्त किया था कि वह स्वयं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित करते हुए, वादी सं. 1 के साथ विवाह करेगी और यह भी कि जॉन डी. अब्राहम की आस्तियों में उसे हिस्सा दिया जाए । प्रतिवादियों के अनुसार मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन द्वारा की गई उक्त मांग के अनुसरण में, 50,000/- रुपए की रकम और कतिपय सोने के आभूषणों को प्रतिवादी सं. 1 और 2 के रूप में उसे दिए गए थे यह महसूस करते हुए कि रहने वाले गृह का विभाजन करना अथवा उक्त गृह में गैर-क्रिश्चियन को ठहराना समुचित नहीं था । प्रतिवादियों के

अनुसार, मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन ने जॉन डी. अब्राहम की आस्तियों में अपना हिस्सा ले लिया था और इसलिए वादी कोई हिस्सा पाने का हकदार नहीं है और वादियों का वाद खारिज किए जाने योग्य है । विद्वान् विचारण न्यायालय के समक्ष दोनों पक्षकारों ने मौखिक के साथ ही दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत किया । इसके पश्चात् अभिलेख पर के साक्ष्यों का मूल्यांकन करने और विचार करने के पश्चात्, विद्वान् विचारण न्यायालय ने विवाद्यक सं. 3 का उत्तर सकारात्मक रूप में दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि एक कुटुम्ब समझौता या व्यवस्थापन हुआ था और यह कि स्व. ए. एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन को उसके द्वारा दावाकृत 50,000/- रुपए दिए गए थे । विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मामले के इस मत को ध्यान में रखते हुए, वादी, स्व. ए. एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन की संपत्तियों के विभाजन और उसमें हिस्से पाने के हकदार नहीं हैं । परिणामत:, विद्वान् विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया था । विद्वान् विचारण न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया था और यह अभिनिर्धारित किया था कि वाद परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित है क्योंकि वर्ष 1964 में जॉन डी. अब्राहम की निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी और क्रिश्चियन विधि में, निर्वसीयत व्यक्ति की मृत्यु होने के तत्काल पश्चात् संपत्ति विभाजित होती है और यह कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी के जीवन काल के दौरान उसने वर्ष 1986 में अपनी मृत्यु होने तक वर्ष 1964 के पश्चात् किसी भी कुटुम्ब सदस्यों के विरुद्ध ऐसा कोई दावा नहीं किया था और यदि वह जॉन डी. अब्राहम की आस्तियों में कोई हिस्सा चाहती थी तो उसे तीन वर्षों के भीतर ऐसा करना चाहिए था । विद्वान् विचारण न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि वाद संपत्ति में पृथक् कब्जे के लिए परिसीमा अवधि, जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु की तारीख से 12 वर्षों की होगी और तद्नुसार, वर्ष 1976 में स्वयमेव ही परिसीमा अवधि समाप्त हो गई थी । विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा वाद खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री से व्यथित और असंतुष्ट होकर मूल वादियों ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2004 की आर. एफ. ए. सं. 546 प्रस्तुत की ।

मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने भी उच्च न्यायालय के समक्ष 2004 की आर. एफ. ए. 940 फाइल करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा वाद खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को चुनौती देते हुए एक पृथक् अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश द्वारा दोनों अपीलों को मंजूर कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि विचारण न्यायालय ने वाद खारिज करने और प्रतिवादी सं. 3 से 5 के दावों को नामंजूर करने में त्रुटि कारित की है । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया और यह अभिनिर्धारित किया कि क्योंकि प्रथम प्रतिवादी की मृत्यु वाद लंबित रहने के दौरान निर्वसीयत हुई थी, इसलिए, जॉन डी. अब्राहम की दोनों पुत्रियां और दोनों पुत्र प्रत्येक 1/4 हिस्से के हकदार हैं । उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि परिणामत:, वादी एक दूसरे के साथ 1/4 हिस्से के हकदार हैं, तृतीय प्रतिवादी 1/4 हिस्से के हकदार हैं, प्रतिवादी सं. 4 और 5, 1/4 हिस्से के हकदार हैं और प्रतिवादी सं. 2, 1/4 हिस्से के हकदार हैं । उच्च न्यायालय ने, तद्नुसार, प्रारंभिक डिक्री पारित करने का निर्देश दिया । उच्च न्यायालय ने अपीलों को मंजूर करते हुए, यह मत व्यक्त किया और यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि, वादी हिन्दू हैं और संपत्ति एक क्रिश्चियन से संबंधित है तब भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के अनुसार, वादी उस क्रिश्चियन व्यक्ति की संपत्ति का विभाजन करा सकते हैं, यदि उस क्रिश्चियन व्यक्ति की मृत्यु निर्वसीयत हुई हो । उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर, मूल प्रतिवादी सं. 2– फरेज जॉन अब्राहम (अब मृत और उसके विधिक प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व) ने वर्तमान अपीलें प्रस्तुत की हैं । न्यायालय द्वारा अपीलें भागत: मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रारंभ में ही, यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है और जैसा कि उपर्युक्त कथित किया गया है, वाद संपत्ति, आरंभत: जॉन डी. अब्राहम की थी । उक्त जॉन डी. अब्राहम की वर्ष 1964 में निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी जो अपने पीछे अपनी पत्नी-इस्टर अब्राहम-मूल प्रतिवादी सं. 1 और 4 बच्चे – 2 पुत्र और 2 पुत्रियां अर्थात्, फरेज जॉन अब्राहम (मूल प्रतिवादी सं. 2), ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस.

मीनाक्षी (जॉन डी. अब्राहम की बड़ी पुत्री और मूल प्रतिवादी सं. 1 की पत्नी), वसंती (मूल प्रतिवादी सं. 3) और स्व. मक्काबियस (प्रतिवादी सं. 4 और 5 का पिता) छोड़ गया था । कि वर्ष 1979 में, ट्रिजा कल्याणी जॉन, हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई और मूल प्रतिवादी सं. 1 से विवाह कर लिया । कि उसकी मृत्यु वर्ष 1986 में हो गई जो अपने पीछे मूल वादियों को छोड़ गई । कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी की मृत्यु के पश्चात् मूल वादियों-ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के पति और बच्चों ने विभाजन और पृथक् कब्जे का दावा करते हुए, वर्तमान वाद संस्थित किया और यह दावा किया कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी का जॉन डी. अब्राहम, जिसकी निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी, की संपत्ति में 1/3 हिस्सा था । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि आरंभत:, वादी, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हुए, मूल प्रतिवादी सं. 1 और 2 – इस्टर अब्राहम, जॉन डी. अब्राहम की पत्नी और फरेज जॉन अब्राहम, जॉन डी. अब्राहम के पुत्र के साथ संयुक्त हुए थे और यह कथन किया था कि सभी तीनों अर्थात् मूल प्रतिवादी सं. 1, मूल प्रतिवादी सं. 2 और ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी का वाद संपत्ति में, प्रत्येक का 1/3 हिस्सा था । तथापि, तत्पश्चात्, मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 पक्षकारों के रूप में संयुक्त रूप से आए । यह पाया गया कि प्रतिवादी सं. 3 – वसंती और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे । विद्वान् विचारण न्यायालय ने गुणागुणों के साथ ही परिसीमा अवधि के आधार पर वाद खारिज कर दिया था । मूल वादियों और मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 द्वारा प्रस्तुत अपीलों में, उच्च न्यायालय ने वाद डिक्री कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि मूल वादियों, मूल प्रतिवादी सं. 2, मूल प्रतिवादी सं. 3 और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/4 हिस्सा है । उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश, मूल प्रतिवादी सं. 2 (अब मृत और विधिक उत्तराधिकारियों के माध्यम से प्रतिनिधित्व) की प्रेरणा पर वर्तमान अपीलों की विषयवस्तु है । क्रमश:, पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुनने और अभिलेख पर के साक्ष्यों/सामग्रियों पर विचार करने के पश्चात्, न्यायालय का यह मत है कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने

में पूर्णत: त्रुटि कारित की है कि वादियों का मृतक ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी-जॉन डी. अब्राहम की पुत्री के उत्तराधिकारी होने के नाते वाद संपत्ति में 1/4 हिस्सा होता है । प्रतिवादी सं. 1 और 2 का यह विनिर्दिष्ट पक्षकथन था कि मूल वादी सं. 1 के साथ ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के विवाह के समय पर वह हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी और उसने अपना नाम ए. एस. मीनाक्षी के रूप में परिवर्तित कर लिया था । प्रतिवादी सं. 1 और 2 का यह विनिर्दिष्ट पक्षकथन था कि सुसंगत समय पर जब उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी ने मूल वादी सं. 1 के साथ विवाह किया था और हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी तो उसका विरोध हुआ था । तथापि, ऐसा होते हुए भी उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी और मूल प्रतिवादी सं. 1 के साथ विवाह कर लिया था और उसे जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में, अपने अधिकार, यदि कोई हो, को त्यक्त करने के लिए 50,000/- रुपए और कुछ सोने के आभूषण संदत्त किए गए थे । विचारण न्यायालय ने दोनों साक्ष्यों के साथ ही ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के आचरण का मूल्यांकन करते हुए, प्रतिवादी सं. 1 और 2 के पक्षकथन पर विश्वास किया था । विचारण न्यायालय ने भी परिसीमा अवधि के आधार पर वाद खारिज कर दिया था । यह उल्लिखित किया जाना है कि जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु वर्ष 1964 में निर्वसीयत हुई थी । ट्रिजा कल्याणी जॉन, जॉन डी. अब्राहम की बड़ी पुत्री ने वर्ष 1979 में मूल वादी सं. 1 के साथ विवाह कर लिया था । उसकी मृत्यु वर्ष 1986 में हुई थी । अपने जीवन-काल के दौरान, उसने कभी भी जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में किसी हिस्से/विभाजन का दावा नहीं किया था । ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी की मृत्यु के पश्चात् ही वादियों ने ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हुए, विभाजन के लिए वाद संस्थित किया, जिसमें अन्य बातों के साथ यह दलील दी गई थी कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी का जॉन डी. अब्राहम, जिसकी निर्वसीयत मृत्यु हुई थी, की वाद संपत्ति में 1/3 हिस्सा था । इसलिए, अपने जीवन-काल के दौरान ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के पूर्वोक्त आचरण पर विचार करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय ने मूल प्रतिवादी सं. 1 और 2 के इस प्रतिरक्षा को सही ही स्वीकार किया है कि उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी को

मूल वादी सं. 1 के साथ उसके विवाह करने के समय पर उसे 50,000/- रुपए और कुछ सोने के आभूषण संदत्त किए गए थे और उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी ने उक्त संपत्ति में अपने हिस्से को त्यक्त कर दिया था । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि मूल प्रतिवादी सं. 2 ने भी संपत्ति में सुधार करने के प्रयोजन हेतु स्वयं अपनी आय से भी खर्च किए थे । मूल प्रतिवादी सं. 2 सेना में सेवा कर रहा था और इसलिए, उसकी स्वतंत्र आय थी । पूर्वोक्त तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात्, वादी, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के किसी हिस्से के हकदार नहीं होते हैं । इसलिए, विद्वान् विचारण न्यायालय ने सही ही वाद को खारिज कर दिया था जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं था । मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि मूल वादी, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के उत्तराधिकारी होने के नाते वाद संपत्ति में 1/4 हिस्सा पाने के हकदार होंगे, अभिखंडित और अपास्त किए जाने योग्य है । अब जहां तक उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया है कि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 का भी 1/4 हिस्सा – वाद संपत्ति में प्रतिवादी सं. 3, 4 और 5 का हिस्सा है, का संबंध है, प्रतिवादी सं. 2 – इसमें के अपीलार्थी का यह पक्षकथन है कि क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने अपने विनिर्दिष्ट हिस्से का दावा करते हुए, वाद में कोई प्रति-दावा फाइल नहीं किया है और वाद खारिज कर दिया गया था, इसलिए, मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 की प्रेरणा पर फाइल अपील कायम रखे जाने योग्य नहीं है, का संबंध है यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि वाद, वादियों और प्रतिवादियों जिनमें मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 सम्मिलित थे, के बीच वाद संपत्ति का विभाजन के लिए था । विभाजन के लिए वाद में, प्रत्येक सह-हिस्सेदार को अपने हिस्से/विभाजन कराने के लिए दावा करने का अधिकार होता है । मूल प्रतिवादी सं. 3, 4 और 5 की ओर से फाइल लिखित कथन पर विचार करने पर भी, उन्होंने यह विनिर्दिष्टत: कथन किया था कि उनका वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/4 हिस्सा है । इसलिए, जब विभाजन के लिए वाद खारिज

कर दिया गया था तो मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 को विभाजन के लिए वाद खारिज करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री से व्यथित होना कहा जा सकता है और इसलिए, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 पर विचार करते हुए, उनकी प्रेरणा पर फाइल अपील कायम रखे जाने योग्य होंगे । अन्यथा भी, यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि विचारण न्यायालय द्वारा विभाजन के लिए वाद खारिज करते हुए, पारित निर्णय और डिक्री को चुनौती देते हुए मूल वादियों द्वारा प्रस्तुत अपील में मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 के लिए प्रति-आक्षेप फाइल करना खुला और अनुज्ञेय होगा । विधि में सुस्थिर प्रतिपादना के अनुसार, प्रति-आक्षेप का ज्ञापन कुछ नहीं होता है, अपितु एक अपील का प्ररूप होता है और यह प्रति-अपील का स्थान ग्रहण करता है । वर्तमान मामले में, प्रति-आक्षेप फाइल करने के बजाय मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने विचारण न्यायालय द्वारा विभाजन के लिए वाद को खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को चुनौती देते हुए एक पृथक् अपील फाइल की है जिसमें उन्होंने वाद संपत्ति में अपने हिस्से का दावा भी किया है, नि:संदेह लिखित कथन में । इसलिए, प्रतिवादी सं. 3 से 5 को सह-हिस्सेदारों के रूप में दावा करते हुए, विभाजन के लिए वाद खारिज करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री से व्यथित होना कहा जा सकता है । अन्यथा भी, यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि क्योंकि ऐसा कोई अभिवाक् नहीं है कि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 की प्रेरणा पर फाइल अपील कायम रखे जाने योग्य नहीं था जो अपीलार्थी द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष लिया गया था । इसलिए, अपीलार्थी-मूल प्रतिवादी सं. 2 की ओर से किया गया यह निवेदन कि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 की प्रेरणा पर फाइल अपील, 2004 की आर. एफ. ए. सं. 940 कायम रखे जाने योग्य नहीं था, को स्वीकार नहीं किया जा सकता है । (पैरा 8.1, 9, 10 और 10.1)

अब, अगला प्रश्न जो इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए है, वह यह है कि क्या प्रतिवादी सं. 3 से 5 का जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में कोई हिस्सा होता है । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि आरंभत: प्रतिवादी सं. 3 से 5, वाद के पक्षकारों के रूप में संयुक्त

नहीं थे । तथापि, प्रतिवादी सं. 1 और 2 द्वारा किए गए इस आक्षेप पर कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस भी मृतक जॉन डी. अब्राहम के उत्तराधिकारी हैं और इसलिए, वाद, समुचित पक्षकारों के असंयोजन के कारण दूषित है, तब वादियों ने वाद संशोधित किया था और वाद में पक्षकारों के रूप में प्रतिवादी सं. 3 से 5 को सम्मिलित किया था । लिखित कथन में, प्रतिवादी सं. 1 और 2 ने वस्तुत:, यह स्वीकार किया है कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के बच्चे थे । किन्तु, साक्ष्य और तर्कों के दौरान, यह कथन किया था कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस नैसर्गिक रूप से उत्पन्न बच्चे नहीं थे, अपितु, वे दत्तक बच्चे थे । इसलिए, इस आधार-वाक्य पर सभी कार्यवाहियां की गईं कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस दत्तक बच्चे थे । इसलिए, न्यायालय भी इस उपधारणा पर मामले में आगे कार्यवाही कर सकता है कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि क्रिश्चियन विधि में, दत्तक ग्रहण करने के विरुद्ध कोई प्रतिषेध नहीं है । यह इंगित करने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दू विधि की तरह ही क्रिश्चियन दंपत्ति को बालक या बालिका को दत्तक लेने को प्रतिषिद्ध करने हेतु कोई विधि नहीं है, यद्यपि, उनके पास नैसर्गिक रूप से उत्पन्न बालक या बालिका हो सकते हैं, जैसी भी दशा हो । पुन: यह मत व्यक्त किया जाता है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि मूल प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे, दोनों ही जॉन डी. अब्राहम – दत्तक पिता की संपत्ति में हिस्सा पाने के हकदार हैं । दत्तक को ध्यान में रखते हुए, एक बच्चा नए कुटुम्ब में स्थापित हो जाता है, जिसके पश्चात्, वह (बालक या बालिका) उस कुटुम्ब का सदस्य समझा जाता है और मानो वह (बालक या बालिका) दत्तक दंपत्ति के पुत्र या पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए हैं और उन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो नैसर्गिक रूप से उत्पन्न पुत्र या पुत्री को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार, अधिकार, जो बच्चा अपने नैसर्गिक पिता के पुत्र होने के नाते अपने जन्म के कुटुम्ब में प्राप्त करता है, वह दत्तक

कुटुम्ब में भी इसी प्रकार के अधिकारों को स्पष्टत: प्राप्त करता है और परिणामत:, वह एक दत्तक पुत्र के रूप में उस कुटुम्ब के सदस्य की हैसियत से उन अधिकारों को सुनिश्चित तौर पर प्राप्त करेगा । इस प्रकार, मूल प्रतिवादी सं. 3 और प्रतिवादी सं. 4 और 5 (स्व. मक्काबियस के उत्तराधिकारीगण) को जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में सह-हिस्सेदारों के रूप में सही ही अभिनिर्धारित किया गया है और वे जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में क्रमश: अपने हिस्से प्राप्त करने के हकदार हैं । मूल प्रतिवादी सं. 1 जॉन डी. अब्राहम की पत्नी की मृत्यु हो गई है और इसलिए, वाद संपत्ति को मूल प्रतिवादी सं. 2, प्रतिवादी सं. 3, 4 और 5 के बीच में विभाजित करना अपेक्षित है । इसलिए, मूल प्रतिवादी सं. 2, 3, 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/3 हिस्सा होगा । इसलिए, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और डिक्री जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि मूल वादियों का 1/4 हिस्सा होगा, मूल प्रतिवादी सं. 2 और 3 का 1/4 हिस्सा होगा और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का 1/4 हिस्सा होगा, को पूर्वोक्त सीमा तक उपांतरित किया जाना अपेक्षित है, यह अभिनिर्धारित करते हुए कि वाद संपत्ति में, मूल प्रतिवादी सं. 2 और 3 प्रत्येक का 1/3 हिस्सा और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का 1/3 हिस्सा होगा । (पैरा 11, 11.1 और 11.2)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2003]	(2003) 1 एस. सी. सी. 34 : **बलदेव सिंह** बनाम **सुरिन्द्र मोहन शर्मा** ;	10.1
[1999]	ए. आई. आर. 1999 केरल 187 : **फिलिप्स अलफर्ड मल्विन** बनाम **वाई. जे. गुनसाल्विस** ;	4.3
[1956]	ए. आई. आर. 1956 कलकत्ता 177 : **बेनॉय कुमार मंडल** बनाम **पंचानन मजूमदार** ।	4.2

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2008 की सिविल अपील सं. 7207-7208.

संविधान, 1950 की धारा 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री एन. वासुदेवन और (सुश्री) अनिता शिनॉय, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से सुश्री शालिनी कौल और श्री चमन लाल चौधरी, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एम. आर. शाह ने दिया ।

न्या. शाह – कर्नाटक उच्च न्यायालय द्वारा 2004 की आर. एफ. ए. सं. 546 और 2004 की आर. एफ. ए. सं. 940 में पारित तारीख 22 नवम्बर, 2006 के आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर इसमें के अपीलार्थी – मूल प्रतिवादी सं. 2 ने वर्तमान अपीलें प्रस्तुत की हैं ।

2. वर्तमान अपीलों के मुख्य तथ्य संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं :–

कि जॉन डी. अब्राहम एक आनुवंशिक रोगी है । कि मूल प्रतिवादी सं. 1 उक्त जॉन डी. अब्राहम की पत्नी है । मूल प्रतिवादी सं. 2, प्रतिवादी सं. 3, ट्रिजा कल्याणी जॉन (मूल वादी सं. 1 की पत्नी) और स्व. मक्काबियस, आनुवंशिक रोगी के बच्चे हैं । कि उक्त वाद अनुसूचित गृह, आनुवंशिक रोगी की संपदा है । कि मूल प्रतिवादी सं. 1 – आनुवंशिक रोगी – जॉन डी. अब्राहम की पत्नी की वाद लंबित रहने के दौरान निर्वसीयत मृत्यु हो गई । कि आनुवंशिक रोगी की मृत्यु के पश्चात् उसकी पुत्री ट्रिजा कल्याणी जॉन ने मूल वादी सं. 1 जो एक हिन्दू था, के साथ विवाह कर लिया । सुसंगत समय पर, ट्रिजा कल्याणी जॉन – आनुवंशिक रोगी की पुत्री ने स्वयं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर लिया और ए. एस. मीनाक्षी के रूप में अपना नाम परिवर्तित कर लिया । मूल वादी सं. 2 और 3, उक्त विवाह से उत्पन्न बच्चे हैं । ट्रिजा कल्याणी जॉन की मृत्यु वर्ष 1986 में हो गई । कि इसके पश्चात् और उक्त ट्रिजा

कल्याणी जॉन की मृत्यु के पश्चात्, मूल वादियों – ट्रिजा कल्याणी जॉन का पति और उनके दो बच्चों ने वाद अनुसूचित संपत्ति के विभाजन और पृथक् कब्जे के लिए विद्वान् सिटी सिविल न्यायाधीश, बंगलौर के न्यायालय में 1987 की मूल वाद सं. 591 संस्थित की । मूल वादियों ने ट्रिजा कल्याणी जॉन (ए. एस. मीनाक्षी) के हिस्सों की ईप्सा करते हुए वाद फाइल किया । वादियों का पक्षकथन यह था कि उक्त ए. एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन की वाद संपत्ति – आनुवंशिक रोगी – जॉन डी. अब्राहम से संबंधित संपत्ति में 1/4 हिस्सा था । वादियों ने वाद में निम्नलिखित अनुतोषों की ईप्सा की –

(i) संपूर्ण संपदा के विभाजन और एक तिहाई अधिकार और हिस्से में पृथक् कब्जा और हक, संपत्तियों और इसमें नीचे अनुसूचित 'ए' में वर्णित संपत्तियों और परिसरों के संबंध में जिसकी चौहदी और सीमा विहित है, के मिट्टी गुणवत्ता, उपयोगिता और भवन तथा उसके परिसरों में पहुंच और उसके उपभोग की सुविधा करने देने के लिए प्रत्यर्थियों को निर्देश दिया जाए कि वे वादियों को उसके अनन्य कब्जे और उपभोग में रखे ।

(ii) वाद संपत्तियों और परिसरों के निरीक्षण के लिए एक या अधिक आयुक्तों की नियुक्ति की जाए और उस पर बने भवनों और उसके परिसरों की योजनाओं और कच्चे नक्शों के साथ वादियों को एक तिहाई हिस्से को आबंटित करते हुए और उस सीमा तक कब्जे में रखते हुए प्रस्थापनाओं को प्रस्तुत किया जाए ।

(iii) इसमें प्रारंभिक डिक्री के अनुसरण में अंतिम डिक्री पारित किया जाए ।

(iv) वादियों के वाद के खर्चे का संदाय करने का निर्देश प्रतिवादियों को दिया जाए । और

(v) सुस्पष्ट ऐसे अन्य अनुतोषों और ऐसे अन्य आदेशों

को पारित किया जाए जो इस मामले की परिस्थितियों में ठीक और समुचित समझा जाए ।

2.1 यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि आरंभत: वाद, मात्र दो प्रतिवादियों – जॉन डी. अब्राहम की पत्नी (प्रतिवादी सं. 1) और इसमें के अपीलार्थी – फरेज जॉन अब्राहम, स्व. जॉन डी. अब्राहम का पुत्र (प्रतिवादी सं. 2) के विरुद्ध ही फाइल की गई थी ।

2.2 वाद का संयुक्त लिखित कथन फाइल करते हुए प्रतिवादी सं. 1 और 2 द्वारा विरोध किया गया था । यह दलील दी गई थी कि जॉन डी. अब्राहम के अन्य पुत्र और पुत्री अर्थात् वसंती और मक्काबियस थे । यह दलील दी गई थी कि उक्त वसंती और मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम का पुष्पा के साथ अंतरंग संबंधों के कारण उत्पन्न हुए थे । यह निवेदन किया गया कि वे भी जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में हिस्से पाने के हकदार हैं । इसलिए, वाद को समुचित पक्षकारों के असंयोजन के आधार पर खारिज किए जाने के लिए निवेदन किया गया था । प्रतिवादी सं. 1 और 2 की ओर से यह भी दलील दी गई थी कि मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन क्रिश्चियन होते हुए भी कुटुम्ब के सदस्यों के इच्छा के विरुद्ध वादी सं. 1 – एक हिन्दू के साथ विवाह किया था । मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन ने यह मत व्यक्त किया था कि वह स्वयं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित करते हुए, वादी सं. 1 के साथ विवाह करेगी और यह भी कि जॉन डी. अब्राहम की आस्तियों में उसे हिस्सा दिया जाए । प्रतिवादियों के अनुसार मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन द्वारा की गई उक्त मांग के अनुसरण में, 50,000/- रुपए की रकम और कतिपय सोने के आभूषणों को प्रतिवादी सं. 1 और 2 के रूप में उसे दिए गए थे यह महसूस करते हुए कि रहने वाले गृह का विभाजन करना अथवा उक्त गृह में गैर-क्रिश्चियन को ठहराना समुचित नहीं था । प्रतिवादियों के अनुसार, मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन ने जॉन डी. अब्राहम की आस्तियों में अपना हिस्सा ले लिया था और इसलिए वादी कोई हिस्सा पाने का हकदार नहीं है और वादियों का वाद खारिज किए जाने योग्य है ।

3. विद्वान् विचारण न्यायालय ने निम्नलिखित विवाद्यकों को विरचित किया :–

(i) क्या वादियों ने यह साबित कर दिया है कि वे और प्रतिवादी, हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब के सदस्य हैं ?

(ii) क्या उन्होंने यह भी साबित कर दिया है कि स्व. ए. एस. मीनाक्षी प्रथम वादी की पत्नी और द्वितीय और तृतीय वादियों की माता की मृत्यु संयुक्त कुटुम्ब के सदस्य के रूप में हुई थी और वाद संपत्तियों के संयुक्त कब्जे में थी ?

(iii) क्या प्रतिवादियों ने यह साबित कर दिया है कि एक कुटुम्ब समझौता या व्यवस्थापन हुआ था और यह कि स्व. ए. एस. मीनाक्षी को उनके द्वारा दावाकृत 50,000/- रुपए दिए गए थे ?

(iv) क्या वाद, आवश्यक पक्षकारों के असंयोजन के कारण दूषित है ?

(v) क्या वाद संपत्तियों में वादियों का हिस्सा है, यदि कोई हो ?

(vi) क्या प्रतिवादियों द्वारा अभिवाचित व्यवस्थापन पक्षकारों पर आबद्धकर है ?

(vii) क्या वाद का समुचित मूल्यांकन हुआ है और अपेक्षित न्यायालय शूल्क संदत्त किया गया है ?

(viii) क्या अनुतोष, यदि कोई हो, वादी पाने के हकदार हैं ?

3.1 कि तत्पश्चात्, वसंती और मक्काबियस भी वाद में पक्षकारों के रूप में अभिवाचित किए गए थे और क्योंकि मक्काबियस की मृत्यु हो गई थी, इसलिए, उसकी विधवा और उसकी पुत्री को अभिलेख पर लाया गया था । वे प्रतिवादी सं. 3 से 5 के रूप में सम्मिलित हुए थे ।

3.2 दोनों पक्षकारों ने मौखिक के साथ ही दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत किया । कि इसके पश्चात् अभिलेख पर के साक्ष्यों का मूल्यांकन करने और विचार करने के पश्चात्, विद्वान् विचारण न्यायालय ने विवाद्यक सं. 3 का उत्तर सकारात्मक रूप में दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि एक कुटुम्ब समझौता या व्यवस्थापन हुआ था और यह कि स्व. ए.

एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन को उसके द्वारा दावाकृत 50,000/- रुपए दिए गए थे । विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मामले के इस मत को ध्यान में रखते हुए, वादी, स्व. ए. एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन की संपत्तियों के विभाजन और उसमें हिस्से पाने के हकदार नहीं हैं । परिणामत:, विद्वान् विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया था । विद्वान् विचारण न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया था और यह अभिनिर्धारित किया था कि वाद परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित है क्योंकि वर्ष 1964 में जॉन डी. अब्राहम की निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी और क्रिश्चियन विधि में, निर्वसीयत व्यक्ति की मृत्यु होने के तत्काल पश्चात् संपत्ति विभाजित होती है और यह कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी के जीवन काल के दौरान उसने वर्ष 1986 में अपनी मृत्यु होने तक वर्ष 1964 के पश्चात् किसी भी कुटुम्ब सदस्यों के विरुद्ध ऐसा कोई दावा नहीं किया था और यदि वह जॉन डी. अब्राहम की आस्तियों में कोई हिस्सा चाहती थी तो उसे तीन वर्षों के भीतर ऐसा करना चाहिए था । विद्वान् विचारण न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि वाद संपत्ति में पृथक् कब्जे के लिए परिसीमा अवधि, जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु की तारीख से 12 वर्षों की होगी और तद्नुसार, वर्ष 1976 में स्वयमेव ही परिसीमा अवधि समाप्त हो गई थी ।

4. विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा वाद खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री से व्यथित और असंतुष्ट होकर मूल वादियों ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2004 की आर.एफ.ए. सं. 546 प्रस्तुत की । मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने भी उच्च न्यायालय के समक्ष 2004 की आर.एफ.ए. सं. 940 फाइल करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा वाद खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को चुनौती देते हुए एक पृथक् अपील फाइल की ।

4.1 कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश द्वारा दोनों अपीलों को मंजूर कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि विचारण न्यायालय ने वाद खारिज करने और प्रतिवादी सं. 3 से 5 के दावों को नामंजूर करने में त्रुटि कारित की है । उच्च न्यायालय ने यह

भी मत व्यक्त किया और यह अभिनिर्धारित किया कि क्योंकि प्रथम प्रतिवादी की मृत्यु वाद लंबित रहने के दौरान निर्वसीयत हुई थी, इसलिए, जॉन डी. अब्राहम की दोनों पुत्रियां और दोनों पुत्र प्रत्येक 1/4 हिस्से का हकदार है । उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि परिणामत:, वादी एक दूसरे के साथ 1/4 हिस्से का हकदार है, तृतीय प्रतिवादी 1/4 हिस्से के हकदार हैं, प्रतिवादी सं. 4 और 5, 1/4 हिस्से के हकदार हैं और प्रतिवादी सं. 2, 1/4 हिस्से के हकदार हैं । उच्च न्यायालय ने, तद्नुसार, प्रारंभिक डिक्री पारित करने का निर्देश दिया ।

4.2 उच्च न्यायालय ने अपीलों को मंजूर करते हुए, यह मत व्यक्त किया और यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि, वादी हिन्दू हैं और संपत्ति एक क्रिश्चियन से संबंधित है तब भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के अनुसार, वादी उस क्रिश्चियन व्यक्ति की संपत्ति का विभाजन करा सकते हैं, यदि उस क्रिश्चियन व्यक्ति की मृत्यु निर्वसीयत हुई हो । उपर्युक्त के समर्थन में, उच्च न्यायालय ने **बेनॉय कुमार मंडल** बनाम **पंचानन मजूमदार**[1] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने विनिश्चय का अवलंब लिया और उस पर विचार किया । उच्च न्यायालय ने अपीलों को मंजूर करते समय प्रतिवादी सं. 1 और 2 की ओर से किए गए इस पक्षकथन पर भी विश्वास नहीं किया कि ए. एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन ने 50,000/- रुपए लेकर अपने हिस्से का त्यजन कर दिया था ।

4.3 अब, जहां तक प्रतिवादी सं. 3 से 5 के अधिकारों का संबंध हैं, उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया और **फिलिप्स अलफर्ड मल्विन** बनाम **वाई. जे. गुनसाल्विस**[2] वाले मामले में, केरल उच्च न्यायालय के विनिश्चय पर विचार करते हुए, यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि, प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस को गोद लिए हुए बच्चे कहा जा सकता है, क्योंकि क्रिश्चियन पति-पत्नी द्वारा गोद लेना अनुज्ञेय है और इसी प्रकार, हिन्दू विधि में भी क्रिश्चियन पति-पत्नी द्वारा लड़का या लड़की को गोद लेने को प्रतिसिद्ध करने वाली कोई विधि नहीं है ।

---

[1] ए. आई. आर. 1956 कलकत्ता 177.

[2] ए. आई. आर. 1999 केरल 187.

यद्यपि, उनके पास स्वयं से उत्पन्न लड़का या लड़की हो सकते हैं, जैसी भी दशा हो । पूर्वोक्त विनिश्चय का अवलंब लेते हुए, उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी सं. 3 और प्रतिवादी सं. 4 और 5 (स्व. मक्काबियस के उत्तराधिकारी होने के नाते) हिस्से पाने के हकदार हैं, इस बात के होते हुए भी कि तृतीय प्रतिवादी और स्व. मक्काबियस गोद लिए हुए बच्चे हैं ।

5. उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित सामान्य निर्णय और आदेश से व्यथित और असंतुष्ट होकर, मूल प्रतिवादी सं. 2-फरेज जॉन अब्राहम (अब मृत और उसके विधिक प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व) ने वर्तमान अपीलें प्रस्तुत की हैं ।

6. अपीलार्थी (अपीलार्थियों) की ओर से विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन और प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् अधिवक्ता सुश्री शालिनी कौल उपस्थित हुए ।

6.1 अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन ने यह जोरदार निवेदन किया है कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय ने प्रतिवादी सं. 1 और 2 के इस पक्षकथन को कि एक कुटुम्ब बंदोबस्त हुआ था जिसके द्वारा ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी ने अपने हिस्से को छोड़ दिया था, को स्वीकार नहीं करके तात्विक त्रुटि कारित की है ।

6.2 अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन द्वारा यह जोरदार निवेदन किया गया है कि सुसंगत समय पर ट्रिजा कल्याणी जॉन वादी सं. 1, जो एक हिन्दू था, से विवाह करना चाहती थी और जिसका उसके कुटुम्ब सदस्यों द्वारा विरोध किया गया था और इसलिए, उसने स्वयं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर लिया था और उस समय पर उसने 50,000/- रुपए लेकर जॉन डी. अब्राहम की संपत्ति/वाद संपत्ति में अपने हिस्से का त्यजन कर दिया था । यह निवेदन किया गया है कि उच्च न्यायालय ने इस आधार पर कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी द्वारा कोई त्यजन विलेख निष्पादित नहीं किया गया था और इस प्रकार, त्यजन विलेख रजिस्ट्रीकृत होना अपेक्षित था, के आधार पर उसे स्वीकार नहीं करके तात्विक त्रुटि कारित की है । अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन द्वारा यह जोरदार निवेदन किया

गया है कि कुटुम्ब व्यवस्थापन का रजिस्ट्रीकृत होना आवश्यक नहीं है और यह मौखिक भी हो सकता है ।

6.3 अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन द्वारा यह जोरदार निवेदन किया गया है कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी के पक्ष में व्यवस्थापन को अभिलेख पर के साक्ष्यों और अधिसंभाव्यता की प्रबलता के आधार पर साबित किया गया है । यह जोरदार निवेदन किया गया है कि जॉन डी. अब्राहम की तारीख 19 अक्तूबर, 1964 को निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी, कि ट्रिजा कल्याणी जॉन वर्ष 1979 में हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी और अपना नाम बदलकर ए. एस. मीनाक्षी रख लिया था और उसने वर्ष 1979 में वादी सं. 1 से विवाह कर लिया था, कि उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी की मृत्यु जुलाई, 1986 के माह में हो गई थी, की उस समय पर, उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी ने जॉन डी. अब्राहम की संपत्ति में अपने हिस्से का दावा नहीं किया था । यह निवेदन किया गया है कि मात्र उसके पश्चात् और ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी की मृत्यु के पश्चात् ही मूल वादी सं. 1 ने वर्ष 1987 में विभाजन और पृथक् कब्जे के लिए एक वाद फाइल किया था । यह निवेदन किया गया है कि इसलिए, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी द्वारा अपने जीवन काल के दौरान, वर्ष 1964 में जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु होने तक वाद संपत्ति में किसी हिस्से का दावा नहीं करने के पूर्वोक्त आचरण से स्पष्टत: यह दर्शित होता है और यह सुझाव मिलता है कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी ने उस समय पर 50,000/- रुपए लेकर अपने हिस्से का त्यजन कर दिया था, जब उस समय उसने वादी सं. 1 से विवाह करने के लिए स्वयं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर लिया था । यह निवेदन किया गया है कि प्रतिवादी सं. 1 और 2 ने भी वाद गृह का पुनर्निर्माण करने में एक बड़ी रकम का निवेश किया है ।

6.4 अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन द्वारा यह भी निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने से भी वाद परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित था । यह निवेदन किया है कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में तात्विक रूप

से त्रुटि कारित की है कि वाद परिसीमा अवधि के भीतर था, इस आधार पर कि वाद, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी की मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के भीतर फाइल किया गया था । यह निवेदन किया है कि उच्च न्यायालय ने क्रिश्चियन विधि पर समुचित रूप से मूल्यांकन और विचार नहीं किया है, संपत्ति, निर्वसीयत व्यक्ति की मृत्यु के तत्काल पश्चात् विभाजित हो जानी थी । यह निवेदन किया है कि क्योंकि जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु वर्ष 1964 में हो गई थी और यह कि वह वर्ष 1979 में हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी और वाद को वर्ष 1987 में फाइल किया गया था और इसलिए, किसी भी दृष्टिकोण से विचार करने पर अर्थात् तीन वर्षों की अवधि के भीतर हिस्से का दावा करने के लिए और/या संपत्ति में पृथक् कब्जे के अनुतोष का दावा करने के लिए परिसीमा अवधि जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु से 12 वर्ष की होती है, इसलिए, वाद स्पष्टत: परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित था । इसलिए, यह निवेदन किया गया है कि उच्च न्यायालय ने वाद को परिसीमा अवधि के भीतर अभिनिर्धारित करके तात्विक रूप से त्रुटि कारित की है ।

6.5 अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन द्वारा यह भी निवेदन किया गया है कि अन्यथा भी उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में गंभीर त्रुटि कारित की है कि प्रतिवादी सं. 3 से 5 के पास भी 1/4 हिस्से थे, इस तथ्य के बावजूद की तृतीय प्रतिवादी और स्वर्गीय मक्काबियस अधर्मज बच्चे थे जिनके क्रमश: तारीख 22 जुलाई, 1951 और 5 जून, 1959 को नामकरण संस्कार हुए थे । यह निवेदन किया है कि अन्यथा भी उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में तात्विक त्रुटि कारित की है कि दत्तक क्रिश्चियन बच्चे संपत्ति में अपने हिस्से पाने के हकदार हैं क्योंकि वे हिन्दू कुटुम्ब से थे ।

6.6 अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता श्री एन. वासुदेवन द्वारा यह जोरदार निवेदन किया गया है कि अन्यथा भी प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने किसी प्रति-दावे के अभाव में किसी हिस्से का दावा नहीं किया है । यह निवेदन किया है कि इसलिए, क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 द्वारा 2004 की आर.एफ.ए. सं. 940 के अधीन फाइल अपील किसी

भी प्रकार से कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

6.7 उपर्युक्त निवेदनों पर विचार करते हुए, वर्तमान अपीलों को मंजूर करने की प्रार्थना की गई है ।

7. इन दोनों अपीलों का इसमें के प्रत्यर्थियों-मूल वादियों और समर्थित प्रतिवादियों के विद्वान् अधिवक्ता सुश्री शालिनी कौल द्वारा जोरदार विरोध किया गया है ।

7.1 प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा यह जोरदार निवेदन किया गया है कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी द्वारा अपने हिस्से का त्यजन करते हुए, निष्पादित किसी त्यजन विलेख के अभाव में और किसी अन्य साक्ष्य के अभाव में कि ए. एस. मीनाक्षी **उर्फ** ट्रिजा कल्याणी जॉन ने 50,000/- रुपए और अन्य सोने के जेवरात लेते हुए अपना हिस्सा छोड़ दिया था/त्यक्त कर दिया था, उच्च न्यायालय ने सही ही उस पर अविश्वास किया है और यह सही ही अभिनिर्धारित किया है कि प्रतिवादी सं. 1 और 2 यह साबित करने में असफल रहे हैं कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी द्वारा अपने हिस्से का कोई त्यजन किया गया था ।

7.2 प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा जोरदार निवेदन किया गया है कि उच्च न्यायालय ने भारतीय उत्तराधिकार के उपबंधों पर विचार करते हुए, यह सही ही अभिनिर्धारित किया है कि गैर-क्रिश्चियन और वर्तमान मामले में हिन्दू भी क्रिश्चियन की निर्वसीयत मृत्यु होने पर वाद संपत्ति में विभाजन का दावा कर सकता है ।

7.3 प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा यह भी निवेदन किया गया है कि जहां तक विचारण न्यायालय द्वारा परिसीमा अवधि पर अभिलिखित निष्कर्ष का संबंध है, प्रारंभ में ही यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा परिसीमा अवधि के बारे में कोई विनिर्दिष्ट विवाद्यक विरचित नहीं किया गया था । इसलिए, यह निवेदन किया है कि परिसीमा अवधि के बारे में किसी विनिर्दिष्ट विवाद्यक के विरचित करने के अभाव में, विद्वान् विचारण न्यायालय को यह अभिनिर्धारित नहीं करना चाहिए था कि वाद परिसीमा अवधि द्वारा वर्जित था ।

7.4 अब जहां तक उच्च न्यायालय द्वारा प्रतिवादी सं. 1 से 5 के हिस्से को स्वीकार करते हुए, पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश का संबंध है, प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा यह जोरदार निवेदन किया गया है कि वस्तुत: प्रतिवादी सं. 3 और मृतक मक्काबियस मृतक जॉन डी. अब्राहम के बच्चे थे, जो वर्ष 1951 में पुष्पा के साथ उसके विवाह से उत्पन्न हुए थे । यह निवेदन किया है कि यह उपधारणा कि वे मृतक जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे, उस मामले में भी, दत्तक बच्चे होने के नाते भी उनका मृतक जॉन डी. अब्राहम की संपत्ति में हिस्सा होता है, जिसकी मृत्यु निर्वसीयत हो गई थी ।

7.5 अब जहां तक अपीलार्थियों-मूल प्रतिवादी सं. 1 और 2 के इस निवेदन का संबंध है कि प्रतिवादी सं. 3 से 5 के किसी प्रति-दावे के अभाव में, मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 द्वारा फाइल 2004 की आर.एफ. ए. 940 किसी भी प्रकार से कायम रखे जाने योग्य नहीं था और इसलिए, उच्च न्यायालय ने उनके पक्ष में डिक्री पारित करके तात्विक त्रुटि कारित की है, यह अभिनिर्धारित करते हुए कि मूल प्रतिवादी सं. 3 और प्रतिवादी सं. 4 एवं 5 (मृतक मक्काबियस के उत्तराधिकारी होने के नाते) का वाद संपत्ति में 1/4 हिस्सा है, का संबंध है, यह निवेदन किया गया कि विभाजन के लिए वाद में, मृतक जिसकी निर्वसीयत मृत्यु हुई थी, की संपत्ति में, प्रत्येक उत्तराधिकारी का अधिकार होता है और वे कोई प्रति-दावा फाइल किए बिना भी अपने हिस्से का दावा कर सकते हैं । यह निवेदन किया गया कि अन्यथा भी ऐसा अभिवाक्/आक्षेप कभी भी उच्च न्यायालय के समक्ष नहीं उठाया गया था और इसलिए, अब अपीलार्थियों को उच्च न्यायालय के समक्ष अवसर खोने के पश्चात् ऐसा अभिवाक्/आक्षेप उठाने की अनुज्ञा नहीं है ।

7.6 उपर्युक्त निवेदनों पर विचार करते हुए, वर्तमान अपीलों को खारिज करने की प्रार्थना की गई है ।

8. हमने, क्रमश: पक्षकारों के विद्वान् अधिवक्ताओं को विस्तारपूर्वक सुना ।

8.1 प्रारंभ में ही, यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है और जैसा

कि उपर्युक्त कथित किया गया है, वाद संपत्ति, आरंभत: जॉन डी. अब्राहम की थी । उक्त जॉन डी. अब्राहम की वर्ष 1964 में निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी जो अपने पीछे अपनी पत्नी-इस्टर अब्राहम-मूल प्रतिवादी सं. 1 और 4 बच्चे 2 पुत्र और 2 पुत्रियां अर्थात्, फरेज जॉन अब्राहम (मूल प्रतिवादी सं. 2), ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** ए. एस. मीनाक्षी (जॉन डी. अब्राहम की बड़ी पुत्री और मूल प्रतिवादी सं. 1 की पत्नी), वसंती (मूल प्रतिवादी सं. 3) और स्व. मक्काबियस (प्रतिवादी सं. 4 और 5 का पिता) छोड़ गया था । कि वर्ष 1979 में, ट्रिजा कल्याणी जॉन, हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई और मूल प्रतिवादी सं. 1 से विवाह कर लिया । कि उसकी मृत्यु वर्ष 1986 में हो गई जो अपने पीछे मूल वादियों को छोड़ गई । कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी की मृत्यु के पश्चात् मूल वादियों-ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के पति और बच्चों ने विभाजन और पृथक् कब्जे का दावा करते हुए, वर्तमान वाद संस्थित किया और यह दावा किया कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी का जॉन डी. अब्राहम, जिसकी निर्वसीयत मृत्यु हो गई थी, की संपत्ति में 1/3 हिस्सा था । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि आरंभत:, वादी, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हुए, मूल प्रतिवादी सं. 1 और 2 इस्टर अब्राहम, जॉन डी. अब्राहम की पत्नी और फरेज जॉन अब्राहम, जॉन डी. अब्राहम के पुत्र के साथ संयुक्त हुए थे और यह कथन किया था कि सभी तीनों अर्थात् मूल प्रतिवादी सं. 1, मूल प्रतिवादी सं. 2 और ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी का वाद संपत्ति में, प्रत्येक का 1/3 हिस्सा था । तथापि, तत्पश्चात्, मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 पक्षकारों के रूप में संयुक्त रूप से आए । यह पाया गया कि प्रतिवादी सं. 3 वसंती और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे । विद्वान् विचारण न्यायालय ने गुणागुणों के साथ ही परिसीमा अवधि के आधार पर वाद खारिज कर दिया था । मूल वादियों और मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 द्वारा प्रस्तुत अपीलों में, उच्च न्यायालय ने वाद डिक्री कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि मूल वादियों, मूल प्रतिवादी सं. 2, मूल प्रतिवादी सं. 3 और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/4 हिस्सा है । उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित

निर्णय और आदेश, मूल प्रतिवादी सं. 2 (अब मृत और विधिक उत्तराधिकारियों के माध्यम से प्रतिनिधित्व) की प्रेरणा पर वर्तमान अपीलों की विषयवस्तु है ।

9. क्रमश:, पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुनने और अभिलेख पर के साक्ष्यों/सामग्रियों पर विचार करने के पश्चात्, हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में पूर्णत: त्रुटि कारित की है कि वादियों का मृतक ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी-जॉन डी. अब्राहम की पुत्री के उत्तराधिकारी होने के नाते वाद संपत्ति में 1/4 हिस्सा होता है । प्रतिवादी सं. 1 और 2 का यह विनिर्दिष्ट पक्षकथन था कि मूल वादी सं. 1 के साथ ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के विवाह के समय पर वह हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी और उसने अपना नाम ए. एस. मीनाक्षी के रूप में परिवर्तित कर लिया था । प्रतिवादी सं. 1 और 2 का यह विनिर्दिष्ट पक्षकथन था कि सुसंगत समय पर जब उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी ने मूल वादी सं. 1 के साथ विवाह किया था और हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी तो उसका विरोध हुआ था । तथापि, ऐसा होते हुए भी उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो गई थी और मूल प्रतिवादी सं. 1 के साथ विवाह कर लिया था और उसे जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में, अपने अधिकार, यदि कोई हो, को त्यक्त करने के लिए 50,000/- रुपए और कुछ सोने के आभूषण संदत्त किए गए थे । विचारण न्यायालय ने दोनों साक्ष्यों के साथ ही ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के आचरण का मूल्यांकन करते हुए, प्रतिवादी सं. 1 और 2 के पक्षकथन पर विश्वास किया था । विचारण न्यायालय ने भी परिसीमा अवधि के आधार पर वाद खारिज कर दिया था । यह उल्लिखित किया जाना है कि जॉन डी. अब्राहम की मृत्यु वर्ष 1964 में निर्वसीयत हुई थी । ट्रिजा कल्याणी जॉन, जॉन डी. अब्राहम की बड़ी पुत्री ने वर्ष 1979 में मूल वादी सं. 1 के साथ विवाह कर लिया था । उसकी मृत्यु वर्ष 1986 में हुई थी । अपने जीवन काल के दौरान, उसने कभी भी जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में किसी हिस्से/विभाजन का दावा नहीं किया था । ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी की मृत्यु के पश्चात् ही वादियों ने ट्रिजा

कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हुए, विभाजन के लिए वाद संस्थित किया, जिसमें अन्य बातों के साथ यह दलील दी गई थी कि ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी का जॉन डी. अब्राहम, जिसकी निर्वसीयत मृत्यु हुई थी, की वाद संपत्ति में 1/3 हिस्सा था । इसलिए, अपने जीवन काल के दौरान ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के पूर्वोक्त आचरण पर विचार करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय ने मूल प्रतिवादी सं. 1 और 2 के इस प्रतिरक्षा को सही ही स्वीकार किया है कि उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी को मूल वादी सं. 1 के साथ उसके विवाह करने के समय पर उसे 50,000/- रुपए और कुछ सोने के आभूषण संदत्त किए गए थे और उक्त ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी ने उक्त संपत्ति में अपने हिस्से को त्यक्त कर दिया था । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि मूल प्रतिवादी सं. 2 ने भी संपत्ति में सुधार करने के प्रयोजन हेतु स्वयं अपनी आय से भी खर्च किए थे । मूल प्रतिवादी सं. 2 सेना में सेवा कर रहा था और इसलिए, उसकी स्वतंत्र आय थी । पूर्वोक्त तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात्, वादी, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के किसी हिस्से के हकदार नहीं होते हैं । इसलिए, विद्वान् विचारण न्यायालय ने सही ही वाद को खारिज कर दिया था जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं था । मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि मूल वादी, ट्रिजा कल्याणी जॉन **उर्फ** मीनाक्षी के उत्तराधिकारी होने के नाते वाद संपत्ति में 1/4 हिस्सा पाने के हकदार होंगे, अभिखंडित और अपास्त किए जाने योग्य है ।

10. अब जहां तक उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया है कि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 का भी 1/4 हिस्सा – वाद संपत्ति में प्रतिवादी सं. 3 और प्रतिवादी सं. 4 और 5 का हिस्सा है, का संबंध है, प्रतिवादी सं. 2 इसमें के अपीलार्थी का यह पक्षकथन है कि क्योंकि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने अपने विनिर्दिष्ट हिस्से का दावा करते हुए, वाद में कोई प्रति-दावा फाइल नहीं किया है और वाद खारिज कर दिया गया था, इसलिए, मूल

प्रतिवादी सं. 3 से 5 की प्रेरणा पर फाइल अपील कायम रखे जाने योग्य नहीं है, का संबंध है यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि वाद, वादियों और प्रतिवादियों जिनमें मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 सम्मिलित थे, के बीच वाद संपत्ति का विभाजन के लिए था । विभाजन के लिए वाद में, प्रत्येक सह-हिस्सेदार को अपने हिस्से/विभाजन कराने के लिए दावा करने का अधिकार होता है । मूल प्रतिवादी सं. 3 और 4 एवं 5 की ओर से फाइल लिखित कथन पर विचार करने पर भी, उन्होंने यह विनिर्दिष्टत: कथन किया था कि उनका वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/4 हिस्सा है । इसलिए, जब विभाजन के लिए वाद खारिज कर दिया गया था तो मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 को विभाजन के लिए वाद खारिज करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री से व्यथित होना कहा जा सकता है और इसलिए, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 पर विचार करते हुए, उनकी प्रेरणा पर फाइल अपील कायम रखे जाने योग्य होंगे ।

10.1 इस प्रक्रम पर, **बलदेव सिंह** बनाम **सुरिन्द्र मोहन शर्मा**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्दिष्ट करना अपेक्षित है । पूर्वोक्त विनिश्चय में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने यह राय व्यक्त की है कि संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन अपील, व्यथित व्यक्ति की प्रेरणा पर तभी कायम रखे जाने योग्य होती है जब वह उक्त निर्णय और डिक्री से व्यथित और असंतुष्ट होता है । इस प्रकार, यदि एक व्यक्ति निर्णय और डिक्री द्वारा प्रतिकूल या अनुचित रूप से प्रभावित होता है तो वह अपील फाइल कर सकता है । अन्यथा भी, यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि विचारण न्यायालय द्वारा विभाजन के लिए वाद खारिज करते हुए, पारित निर्णय और डिक्री को चुनौती देते हुए मूल वादियों द्वारा प्रस्तुत अपील में मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 के लिए प्रति-आक्षेप फाइल करना खुला और अनुज्ञेय होगा । विधि में सुस्थिर प्रतिपादना के अनुसार, प्रति-आक्षेप का ज्ञापन कुछ नहीं होता है, अपितु एक अपील का प्ररूप होता है और यह प्रति-अपील का स्थान ग्रहण करता है । वर्तमान मामले में, प्रति-आक्षेप

[1] (2003) 1 एस. सी. सी. 34.

फाइल करने के बजाय मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 ने विचारण न्यायालय द्वारा विभाजन के लिए वाद को खारिज करते हुए पारित निर्णय और डिक्री को चुनौती देते हुए एक पृथक् अपील फाइल की है जिसमें उन्होंने वाद संपत्ति में अपने हिस्से का दावा भी किया है, नि:संदेह लिखित कथन में । इसलिए, प्रतिवादी सं. 3 से 5 को सह-हिस्सेदारों के रूप में दावा करते हुए, विभाजन के लिए वाद खारिज करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री से व्यथित होना कहा जा सकता है । अन्यथा भी, यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि क्योंकि ऐसा कोई अभिवाक् नहीं है कि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 की प्रेरणा पर फाइल अपील कायम रखे जाने योग्य नहीं थी जो अपीलार्थी द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष लिया गया था । इसलिए, अपीलार्थी-मूल प्रतिवादी सं. 2 की ओर से किया गया यह निवेदन कि मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 की प्रेरणा पर फाइल अपील, 2004 की आर.एफ.ए. सं. 940 कायम रखे जाने योग्य नहीं थी, को स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

11. अब, अगला प्रश्न जो इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए है, वह यह है कि क्या प्रतिवादी सं. 3 से 5 का जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में कोई हिस्सा होता है ।

11.1 यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि आरंभत: प्रतिवादी सं. 3 से 5, वाद के पक्षकारों के रूप में संयुक्त नहीं थे । तथापि, प्रतिवादी सं. 1 और 2 द्वारा किए गए इस आक्षेप पर कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस भी मृतक जॉन डी. अब्राहम के उत्तराधिकारी हैं और इसलिए, वाद, समुचित पक्षकारों के असंयोजन के कारण दूषित है, तब वादियों ने वाद संशोधित किया था और वाद में पक्षकारों के रूप में प्रतिवादी सं. 3 से 5 को सम्मिलित किया था । लिखित कथन में, प्रतिवादी सं. 1 और 2 ने वस्तुत:, यह स्वीकार किया है कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के बच्चे थे । किन्तु, साक्ष्य और तर्कों के दौरान, यह कथन किया था कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस नैसर्गिक रूप से उत्पन्न बच्चे नहीं थे, अपितु, वे दत्तक बच्चे थे । इसलिए, इस आधार-वाक्य पर सभी कार्यवाहियां की गई कि प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस दत्तक बच्चे थे । इसलिए, हम भी इस उपधारणा पर मामले में आगे कार्यवाही कर सकते हैं कि

प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे । यह उल्लिखित किया जाना अपेक्षित है कि क्रिश्चियन विधि में, दत्तक ग्रहण करने के विरुद्ध कोई प्रतिषेध नहीं है । यह इंगित करने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दू विधि की तरह ही क्रिश्चियन दंपत्ति को बालक या बालिका को दत्तक लेने को प्रतिषिद्ध करने हेतु कोई विधि नहीं है, यद्यपि, उनके पास नैसर्गिक रूप से उत्पन्न बालक या बालिका हो सकते हैं, जैसी भी दशा हो । पुन: यह मत व्यक्त किया जाता है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि मूल प्रतिवादी सं. 3 और स्व. मक्काबियस, जॉन डी. अब्राहम के दत्तक बच्चे थे, दोनों ही जॉन डी. अब्राहम - दत्तक पिता की संपत्ति में हिस्सा पाने के हकदार हैं ।

11.2 दत्तक को ध्यान में रखते हुए, एक बच्चा नए कुटुम्ब में स्थापित हो जाता है, जिसके पश्चात्, वह (बालक या बालिका) उस कुटुम्ब का सदस्य समझा जाता है और मानो वह (बालक या बालिका) दत्तक दंपत्ति के पुत्र या पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए हैं और उन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो नैसर्गिक रूप से उत्पन्न पुत्र या पुत्री को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार, अधिकार, जो बच्चा अपने नैसर्गिक पिता के पुत्र होने के नाते अपने जन्म के कुटुम्ब में प्राप्त करता है, वह दत्तक कुटुम्ब में भी इसी प्रकार के अधिकारों को स्पष्टत: प्राप्त करता है और परिणामत:, वह एक दत्तक पुत्र के रूप में उस कुटुम्ब के सदस्य की हैसियत से उन अधिकारों को सुनिश्चित तौर पर प्राप्त करेगा । इस प्रकार, मूल प्रतिवादी सं. 3, 4 और 5 (स्व. मक्काबियस के उत्तराधिकारीगण) को जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में सह-हिस्सेदारों के रूप में सही ही अभिनिर्धारित किया गया है और वे जॉन डी. अब्राहम की वाद संपत्ति में क्रमश: अपने हिस्से प्राप्त करने के हकदार हैं । मूल प्रतिवादी स. 1 जॉन डी. अब्राहम की पत्नी की मृत्यु हो गई है और इसलिए, वाद संपत्ति को मूल प्रतिवादी सं. 2, 3, 4 और 5 के बीच में विभाजित करना अपेक्षित है । इसलिए, मूल प्रतिवादी सं. 2, 3, 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/3 हिस्सा होगा । इसलिए, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और डिक्री जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि मूल वादियों का 1/4

हिस्सा होगा, मूल प्रतिवादी सं. 2 और 3 का 1/4 हिस्सा होगा और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का 1/4 हिस्सा होगा, को पूर्वोक्त सीमा तक उपांतरित किया जाना अपेक्षित है, यह अभिनिर्धारित करते हुए कि वाद संपत्ति में, मूल प्रतिवादी सं. 2 और 3 प्रत्येक का 1/3 हिस्सा और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का 1/3 हिस्सा होगा ।

12. तद्द्वारा, उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए और उपर्युक्त कथित कारणों से 2004 की आर.एफ.ए. सं. 546 से उद्भूत सिविल अपील मंजूर की जाती है । तद्द्वारा, मूल वादियों द्वारा प्रस्तुत 2004 की आर.एफ.ए. सं. 546 में उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश अभिखंडित और अपास्त किया जाता है और तद्द्वारा, वाद खारिज करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री को प्रतिस्थापित किया जाता है ।

तद्द्वारा, मूल प्रतिवादी सं. 3 से 5 द्वारा प्रस्तुत सिविल अपील जो 2004 की आर.एफ.ए. सं. 940 से उद्भूत हुई है, को भागत: मंजूर किया जाता है और तद्द्वारा, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश को उपांतरित किया जाता है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि मूल प्रतिवादी सं. 2, मूल प्रतिवादी सं. 3 और मूल प्रतिवादी सं. 4 और 5 (संयुक्त रूप से) का जॉन डी. अब्राहम की मूल रूप से संबंधित वाद संपत्ति में प्रत्येक का 1/3 हिस्सा होगा । तथापि, मामले के उपर्युक्त तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, खर्चे का कोई आदेश नहीं किया जाएगा ।

अपीलें भागत: मंजूर की गईं ।

क.

[2019] 4 उम. नि. प. 288

विजय पांडे

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य

[2019 की दांडिक अपील सं. 1143]

30 जुलाई, 2019

न्यायमूर्ति अशोक भूषण और न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा

स्वापक ओषधि और मन: प्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985 (1985 का 61) – धारा 8, 15 और 50 – अभियुक्त के कब्जे से अवैध अफीम अभिगृहीत किया जाना – अभिग्रहण का कोई स्वतंत्र साक्षी न होना – अभिगृहीत नमूने को अभियुक्त से संबद्ध करने में अभियोजन पक्ष की असफलता – जहां अभियोजन पक्ष यह साबित करने में असफल रहता है कि न्यायालय में प्रस्तुत किया गया स्वापक पदार्थ का नमूना अभियुक्त से अभिगृहीत पदार्थ का है और केवल प्रयोगशाला की यह रिपोर्ट प्रस्तुत की गई हो कि परीक्षण किया गया नमूना स्वापक पदार्थ का था, उसे अभियुक्त की दोषसिद्धि करने के लिए निश्चायक साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है और उसे दोषमुक्त करना उचित होगा ।

अपील के तथ्यों के अनुसार, अपीलार्थी कथित रूप से अपने दाएं हाथ में एक प्लास्टिक की आटे की थैली ले जा रहा था जिसमें से 10 कि. ग्रा. अफीम की बरामदगी हुई । उस परिक्षेत्र से किसी स्वतंत्र साक्षी के अन्वेषण में सम्मिलित नहीं किया गया था और सभी साक्षी केवल पुलिस पदधारी थे । विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त को स्वापक ओषधि और मन: प्रभावी अधिनियम की धारा 8, 15 और 31 के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया गया । अभियुक्त द्वारा अपनी दोषसिद्धि और दंडादेश को उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई । उच्च न्यायालय द्वारा उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि की गई । अभियुक्त ने व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – अभिग्रहण 6.40 बजे पूर्वाह्न में अपीलार्थी की दहलीज पर किया गया था । न्यायालय को विश्वास नहीं हो रहा कि एक ग्रामीण आवासीय परिक्षेत्र में पुलिस को एक भी स्वतंत्र साक्षी नहीं मिल सका था । किसी व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है जिसने साक्षी बनने से इनकार कर दिया हो । उच्च न्यायालय ने स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम की धारा 50 के अधीन तलाशी और अभिग्रहण के समय बनाया गया कोई बरामदगी ज्ञापन न होने का उल्लेख करने के बावजूद यह राय व्यक्त की कि इस आशय के लिए पुलिस साक्षी का अभिसाक्ष्य इसका पर्याप्त अनुपालन है । यद्यपि प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिप्राप्त की गई थी, किंतु अपीलार्थी से कथित रूप से बरामद नमूने की शनाख्त को अभियोजन पक्ष द्वारा निश्चायक रूप से सिद्ध नहीं किया गया था । प्रस्तुत मामले में अभियोजन पक्ष की अभिगृहीत नमूने को अपीलार्थी से अभिगृहीत किए गए नमूने से संबद्ध करने में असफलता अभिगृहीत नमूने को ही प्रस्तुत करने में असफल रहने वाले मामले से भिन्न नहीं करती है । इन परिस्थितियों में मात्र प्रयोगशाला की यह रिपोर्ट प्रस्तुत करना कि परीक्षण किया गया नमूना स्वापक पदार्थ था, स्वयमेव निश्चायक सबूत नहीं बन सकता है । अत:, न्यायालय अपीलार्थी की दोषसिद्धि को कायम नहीं रख सकता है । (पैरा 5, 8 और 10)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[2018] ए. आई. आर. 2018 एस. सी. 3853 :
मोहन लाल बनाम **पंजाब राज्य** ; 7

[2013] (2013) 14 एस. सी. सी. 527 :
विजय जैन बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ; 8

[2011] (2011) 5 एस. सी. सी. 123 :
अशोक उर्फ **डांगरा जायसवाल** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** । 9

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2019 की दांडिक अपील सं. 1143.

2007 की दांडिक अपील सं. 7351 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 10 अक्तूबर, 2018 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री त्रिपुरारी रे, बलवंत सिंह बिलौरिया, सुरेश कुमार शर्मा, प्रवीण कुमार, प्रफुल्ल कुमार और राजेश सिंह

प्रत्यर्थी की ओर से — सर्वश्री संजय कुमार त्यागी, अजय कुमार प्रजापति, ए. के. पांडे, योगेश पचौरी और संदीप सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति नवीन सिन्हा ने दिया ।

न्या. सिन्हा – अपीलार्थी ने स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985 (जिसे इसमें इसके पश्चात् स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम कहा गया है) की धारा 8 और 15 के अधीन अपनी दोषसिद्धि और धारा 31 के अधीन 15 वर्ष के कारावास सहित 1,50,000/- रुपए के जुर्माने के दंडादेश को चुनौती दी है ।

2. अपीलार्थी कथित रूप से अपने दाएं हाथ में एक प्लास्टिक की आटे की थैली ले जा रहा था जिसमें से 10 कि. ग्रा. अफीम की बरामदगी हुई । उस परिक्षेत्र से किसी स्वतंत्र साक्षी को अन्वेषण में सम्मिलित नहीं किया गया था और सभी साक्षी केवल पुलिस पदधारी हैं ।

3. अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल ने मिथ्या रूप से फंसाए जाने का अभिकथन करते हुए यह दलील दी कि अपीलार्थी ने जैसे ही अपने मकान से बाहर कदम रखा उसे गिरफ्तार कर लिया गया था । आवासीय परिक्षेत्र में कोई स्वतंत्र साक्षी उपलब्ध न होने के बारे में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है । स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम की धारा 50 का अनुपालन नहीं किया गया है । अभियोजन पक्ष यह साबित करने में असफल रहा कि न्यायालय में प्रस्तुत किया गया नमूना वही था जो अपीलार्थी से अभिगृहीत किया गया था ।

4. राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि अपीलार्थी की स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम के अधीन पहले दो बार दोषसिद्धि हो चुकी है और वह एक आदतन अपराधी है । धारा 50 का अनुपालन किया गया था । विचारण न्यायालय ने अपना यह समाधान अभिलिखित किया है कि न्यायालय में प्रस्तुत किया गया नमूना वही था जो अपीलार्थी से अभिगृहीत किया गया था । किसी भी स्थिति में इससे अपीलार्थी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है ।

5. हमने संबंधित दलीलों पर विचार किया । अभिग्रहण 6.40 बजे पूर्वाह्न में अपीलार्थी की दहलीज पर किया गया था । हमें विश्वास नहीं हो रहा कि एक ग्रामीण आवासीय परिक्षेत्र में पुलिस को एक भी स्वतंत्र साक्षी नहीं मिल सका था । किसी व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है जिसने साक्षी बनने से इनकार कर दिया हो । उच्च न्यायालय ने स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम की धारा 50 के अधीन तलाशी और अभिग्रहण के समय बनाया गया कोई बरामदगी ज्ञापन न होने का उल्लेख करने के बावजूद यह राय व्यक्त की कि इस आशय के लिए पुलिस साक्षी का अभिसाक्ष्य इसका पर्याप्त अनुपालन है । यद्यपि प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिप्राप्त की गई थी, किंतु अपीलार्थी से कथित रूप से बरामद नमूने की शनाख्त को अभियोजन पक्ष द्वारा निश्चायक रूप से सिद्ध नहीं किया गया था ।

6. न्यायालय में प्रस्तुत किए गए नमूने के संबंध में अभियुक्त ने आक्षेप किया है कि इसे उससे बरामद किया गया सिद्ध नहीं किया गया है । विचारण न्यायालय ने यह राय व्यक्त की कि "उत्तर प्रदेश राज्य में मालखानों की हालत दयनीय और अद्भूत है और आपत्तिजनक बातें सामने आती हैं ।" प्रस्तुत की गई प्लास्टिक की थैली और इस पर अभियुक्त का नाम लिखने में प्रयुक्त स्याही बहुत घटिया गुणवत्ता की थी और नाम स्पष्ट नहीं हो रहा था तथा समय व्यतीत होने के साथ मिट गया होगा । फिर भी, चूंकि अपीलार्थी के विरुद्ध अभिकथनों को साक्षियों द्वारा साबित किया गया था, इसलिए प्रस्तुत किए गए उस नमूने की निश्चायक रूप से शनाख्त करने में असफलता, जो अपीलार्थी से अभिगृहीत किया गया था, महत्वहीन है । दुर्भाग्यवश, उच्च न्यायालय

ने इस पहलू पर कतई विचार नहीं किया । पूर्ववर्ती दोषसिद्धि का तथ्य दंडादेश के प्रयोजन के लिए सुसंगत हो सकता है किंतु स्वत: दोषसिद्धि का आधार नहीं हो सकता है ।

7. **मोहन लाल** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था :–

> "10. दांडिक विधिशास्त्र के इस साधारण सिद्धांत कि अभियुक्त के तब तक निर्दोष होने की उपधारणा की जाती है जब तक वह दोषी साबित नहीं हो जाता है, से भिन्न स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम में धारा 35 और 54 के अधीन एक विपरीत सबूत का भार उपबंधित है । किंतु इसका यह अर्थ नहीं समझा जा सकता है कि जिस क्षण अभिकथन किया जाता है और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में कानूनी प्रक्रियाओं का अनुपालन करके बरामदगी करने का वर्णन किया जाता है, अभियोजन के आरंभ होते ही, अभियोजन पक्ष द्वारा कुछ और सिद्ध या साबित किए बिना सबूत का भार अभियुक्त पर स्थानांतरित हो जाता है । यह उपधारणा खंडनीय है । धारा 35(2) में यह उपबंधित है कि कोई तथ्य तब साबित हुआ कहा जा सकता है यदि यह युक्तियुक्त संदेह के परे, न कि अधिसंभाव्यता की प्रबलता के आधार पर, सिद्ध किया जाता है । स्वापक ओषधि और मन: प्रभावी पदार्थ अधिनियम के कठोर उपबंधों में, जैसा कि धारा 37 में है, न्यूनतम दंडादेश दस वर्ष का कारावास है और परिहार के लिए कोई उपबंध नहीं है, इसलिए अभियोजन पक्ष अन्वेषण के पश्चात् मामले को प्रथमदृष्ट्या युक्तियुक्त संदेह के परे सिद्ध करने की अपेक्षा से अभिमुक्त नहीं हो जाता है और केवल इसके पश्चात् ही सबूत का भार अभियुक्त पर स्थानांतरित होता है । अभियोजन के पक्षकथन को अधिसंभाव्यताओं की प्रबलता पर निर्भर होने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है ।"

8. प्रस्तुत मामले में अभियोजन पक्ष की अभिगृहीत नमूने को

---

[1] ए. आई. आर. 2018 एस. सी. 3853.

अपीलार्थी से अभिगृहीत किए गए नमूने से संबद्ध करने में असफलता अभिगृहीत नमूने को ही प्रस्तुत करने में असफल रहने वाले मामले से भिन्न नहीं करती है । इन परिस्थितियों में मात्र प्रयोगशाला की यह रिपोर्ट प्रस्तुत करना कि परीक्षण किया गया नमूना स्वापक पदार्थ था, स्वयमेव निश्चायक सबूत नहीं बन सकता है । अभिगृहीत नमूने और जिसका परीक्षण किया गया, उनमें परस्पर संबंध होना चाहिए । **विजय जैन** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में की गई निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां सुसंगत समझी गई है :–

> "10. दूसरी ओर, जितेन्द्र वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का अनुशीलन करने पर हम यह पाते हैं कि इस न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि स्वापक ओषधि और मन:प्रभावी पदार्थ अधिनियम के अधीन अपराध के लिए विचारण में, अभियोजन पक्ष के लिए सटीक साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध करना आवश्यक था कि विनिषिद्ध माल की अभिकथित मात्राएं अभियुक्त के कब्जे से अभिगृहीत की गई थी और इस तथ्य को साबित करने का सर्वोत्तम साक्ष्य यह है कि अभिगृहीत सामग्री को विचारण के दौरान तात्विक वस्तुओं के रूप में प्रस्तुत किया जाए और जहां अभिकथित रूप से अभिगृहीत सामग्री प्रस्तुत नहीं की जाती है और अभियोजन पक्ष द्वारा विनिषिद्ध सामग्री को प्रस्तुत करने में असफल रहने का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता है, वहां केवल यह मौखिक साक्ष्य कि सामग्री अभियुक्त से अभिगृहीत की गई थी, स्वापक ओषाधि और मन: प्रभावी पदार्थ अधिनियम के अधीन अपराध को सिद्ध करने के लिए विशिष्ट रूप से तब पर्याप्त नहीं होगा, जब पंच साक्षी पक्षद्रोही हो गए हों । पुन:, अशोक (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह पाया कि अभियुक्त के कब्जे से अभिकथित रूप से अभिगृहीत स्वापक पाउडर (चूर्ण) को विचारण न्यायालय के समक्ष तात्विक प्रदर्श के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया था और इसको प्रस्तुत न करने के बारे में कोई स्पष्टीकरण

---

[1] (2013) 14 एस. सी. सी. 527.

नहीं दिया गया था और इसलिए इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी के कब्जे से जो पदार्थ अभिगृहीत किया गया था उसे न्यायालयिक प्रयोगशाला की रिपोर्ट से संबद्ध करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है ।"

9. **अशोक** उर्फ **डांगरा जायसवाल** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था :–

"12. इतना ही नहीं, अपीलार्थी सहित अभियुक्त के कब्जे से अभिगृहीत अभिकथित स्वापक पाउडर (चूर्ण) कभी भी विचारण न्यायालय के समक्ष एक तात्विक प्रदर्श के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया था और इसे प्रस्तुत न करने के लिए पुन: एक बार कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है । अत:, न्यायालयिक प्रयोगशाला की रिपोर्ट को उस पदार्थ से संबद्ध करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है जो अपीलार्थी या अन्य अभियुक्त के कब्जे से अभिगृहीत किया गया था ।"

10. अत:, हम अपीलार्थी की दोषसिद्धि को कायम नहीं रख सकते हैं । विचारण न्यायालय द्वारा की गई और उच्च न्यायालय द्वारा कायम रखी गई दोषसिद्धि असंधार्य है और तद्नुसार अपास्त की जाती है । अपीलार्थी को दोषमुक्त किया जाता है । यदि वह किसी अन्य मामले में वांछित न हो तो उसे तुरंत रिहा करने का निदेश दिया जाता है ।

11. यह अपील मंजूर की जाती है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

---

[1] (2011) 5 एस. सी. सी. 123.

[2019] 4 उम. नि. प. 295

सूर्याकांत बाबूराव उर्फ रामराव फाद

बनाम

महाराष्ट्र राज्य और अन्य

[2019 की दांडिक अपील सं. 1161]

30 जुलाई, 2019

न्यायमूर्ति आर. बानुमती और न्यायमूर्ति ए. एस. बोपन्ना

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 307 – हत्या करने का प्रयत्न – अभियुक्त द्वारा क्षतिग्रस्त की छाती में गोली मारा जाना – डाक्टर की राय में क्षति मृत्यु कारित करने योग्य होना – विचारण न्यायालय द्वारा सात वर्ष के कठोर कारावास और जुर्माने से दंडादिष्ट किया जाना – अपील न्यायालय द्वारा दंडादेश को कम करके पांच वर्ष किया जाना और जुर्माने में वृद्धि किया जाना – जहां अभियुक्त और क्षतिग्रस्त के बीच हुई कुछ कहा-सुनी के पश्चात् अभियुक्त ने क्षतिग्रस्त को सबक सिखाने के आशय से उसकी छाती में गोली मारकर क्षतिग्रस्त कर दिया हो और डाक्टर की यह राय हो कि क्षतिग्रस्त को पहुंची क्षति मृत्यु कारित करने योग्य थी, वहां अभियुक्त के प्रति अनुचित सहानुभूति दिखाते हुए उसके दंडादेश को कम करना उचित नहीं होगा क्योंकि न्यायालय मामले के सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों विशिष्ट रूप से, घटना में कारित क्षतियों और प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति को ध्यान में रखकर अपराध की गंभीरता के अनुरूप दंडादेश अधिरोपित करने के लिए आबद्ध है ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, अपीलार्थी तथा अन्य क्षतिग्रस्त साक्षी और अभियुक्त सं. 2 – देवराज और अन्य अभियुक्तों के साथ किसी बात को लेकर गर्मा-गरमी हुई थी । अभियुक्त सं. 2 ने अपनी लाइसेंसशुदा पिस्तौल निकाली और अपीलार्थी तथा अभि. सा. 7 – चंद्रकांत को गोली मार दी जो उसकी छाती के आर-पार हो गई । अन्य

अभियुक्तों द्वारा लात-घूसों से पिटाई की गई । सूर्याकांत (अभि. सा. 7) ने शिकायत दर्ज की, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307, धारा 323 और 506 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई । अन्वेषण पूर्ण होने पर अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307, 323 और 506 तथा आयुध अधिनियम की धारा 25 के साथ पठित धारा 4 के अधीन आरोप पत्र फाइल किया गया । विचारण न्यायालय ने क्षतिग्रस्त प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य के साथ-साथ चिकित्सा साक्ष्य का भी अवलंब लेते हुए अभियुक्त सं. 1 से 3 को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्ध किया और उनमें से प्रत्येक को सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का तथा प्रत्येक द्वारा 15,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने का इसके व्यतिक्रम खंड सहित, दंडादेश दिया । विचारण न्यायालय ने उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन भी दोषसिद्ध किया और उनमें प्रत्येक को छह माह का कठोर कारावास भुगतने और प्रत्येक द्वारा 500/- रुपए को जुर्माने का संदाय करने, व्यतिक्रम खंड संहित, का दंडादेश दिया । विचारण न्यायालय ने यह निदेश दिया कि अभियुक्तों द्वारा संदत्त जुर्माने की रकम में से क्षतिग्रस्त चंद्रकांत (अभि. सा. 6) और सूर्याकांत (अभि. सा. 7) प्रत्येक को 20,000/- रुपए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 के उपबंध के अनुसार प्रतिकर के रूप में दिए जाएं । उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल की गई अपील में, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि की अभिपुष्टि की किंतु उस पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को कम करके पांच वर्ष कर दिया । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज को 25,000/- रुपए के जुर्माने का, व्यतिक्रम खंड सहित, संदाय करने का निदेश दिया । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 326 के अधीन भी दोषसिद्ध किया और उस पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को उसके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि तक कम कर

दिया तथा उसे 15,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय, व्यतिक्रम खंड सहित, करने का भी निदेश दिया । जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश का संबंध है, उच्च न्यायालय ने उसे बनाए रखा । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 2-आशीष और अभियुक्त सं. 3-बालाजी को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन आरोप से दोषमुक्त कर दिया और इसके बजाए उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 326 के अधीन दोषसिद्ध किया और उनके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि के कारावास का दंडादेश दिया तथा अभियुक्त सं. 2 और 3 में से प्रत्येक को 25,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने का, व्यतिक्रम खंड सहित, निदेश दिया । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 2-आशीष और अभियुक्त सं. 3-बालाजी पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन अधिरोपित दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखा । उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी ने उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । अपील भागत: मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध करने वाले व्यक्ति को आजीवन कारावास भुगतने का आदेश किया जा सकता है । भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि को न्यायोचित्य ठहराने के लिए, मृत्यु कारित करने का आशय या कृत्य ऐसी क्षति कारित करने के आशय से किया गया था जिससे मृत्यु कारित होना संभाव्य है, अपराध का गठन करने के लिए आवश्यक है । यद्यपि, वास्तव में कारित की गई क्षति की प्रकृति अभियुक्त के आशय के बारे में निष्कर्ष पर पहुंचने में पर्याप्त सहायक होगी । ऐसे आशय का अवकलन अन्य परिस्थितियों से भी किया जा सकता है । अभियुक्त सं. 1-देवराज सेना में सेवारत था और उसके पास पिस्तौल रखने की अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) था । यदि क्षतिग्रस्त साक्षियों अभि. सा. 6-चंद्रकांत और अभि. सा. 7-सूर्याकांत तथा प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभि. सा. 4-राम फाद के साक्ष्य पर समग्र रूप से विचार किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अभियुक्त सं. 1-देवराज का अभि. सा. 6-चंद्रकांत को सबक सिखाने का आशय यह था कि उसने अभियुक्त सं. 3-बालाजी को उसके खेत में

मलबा फैलाने का विरोध क्यों किया था और उनके बीच इसे लेकर कुछ गर्मा-गर्मी हुई थी । अभि. सा. 1-देवराज पिस्तौल लिए हुए था और अभि. सा. 6-चंद्रकांत को उसकी छाती पर गोली मार दी, जो उसकी छाती के आर-पार हो गई । जब अभि. सा. 7-सूर्याकांत ने हस्तक्षेप करने की कोशिश की तो अभियुक्त सं. 1-देवराज ने अभि. सा. 7-सूर्याकांत पर भी गोली चला दी । दंडादेश की मात्रा पर विचार करते समय न्यायालयों से मामले के सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों, विशिष्ट रूप से, घटना में कारित की गई क्षतियों और प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति पर विचार करने की प्रत्याशा की जाती है, जिनका दंडादेश के प्रश्न के लिए महत्व होगा और न्यायालय अपराध की गंभीरता के अनुरूप दंडादेश अधिरोपित करने के लिए आबद्ध हैं । अभि. सा. 6 चंद्रकांत को कारित क्षतियों की प्रकृति अर्थात् छाती में गोली मारने के घाव और डाक्टर की राय कि अभि. सा. 6 को कारित क्षतियां मृत्यु कारित करने योग्य हैं, पर विचार करते हुए, हमारे मत में, उच्च न्यायालय ने प्रथम अभियुक्त-देवराज के दंडादेश को कम करके ठीक नहीं किया है । दंडादेश अधिनिर्णीत करने का प्रश्न न्यायालयों के विवेकाधिकार का विषय है और इसे मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करके प्रयोग किया जाना चाहिए । यद्यपि, न्यायालय को दंडादेश अधिनिर्णीत करने का विवेकाधिकार है, तो भी यह अपराध की गंभीरता के अनुरूप होना चाहिए । न्यायालय को दंडादेश के चयन को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त कारण अभिलिखित करने चाहिए । जहां तक प्रत्यर्थी सं. 3 और 4-अभियुक्त सं. 2 और 3 का संबंध है, घटना के समय पर वे आयुधों से लैस नहीं थे । अभियुक्त सं. 2 और 3 ने क्षतिग्रस्त पर अभिकथित रूप से लात-घुसों और लाठियों से हमला किया था । मामले के तथ्यों और परिस्थितियों तथा अभिलेख पर साक्ष्य पर विचार करते हुए, हम अभियुक्त सं. 2 और 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषमुक्ति में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं है । जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन दोषसिद्धि का संबंध है, न्यायालय ने इस बात को विचार में लिया कि घटना के समय अभियुक्त सं. 2-आशीष की आयु

19 वर्ष थी और अभियुक्त सं. 3-बालाजी की आयु 38 वर्ष थी और उनकी आयु तथा पारिवारिक परिस्थितियों और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि उनकी आपराधिक पृष्ठभूमि नहीं है । उच्च न्यायालय ने छह माह के दंडादेश को उनके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि तक कम करना उचित समझा । चूंकि अभियुक्त सं. 2 और 3 आक्रामक आयुधों से लैस नहीं थे, हम उनकी भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषमुक्ति और भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 326 के अधीन दंडादेश के कारावास में की गई कमी में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं हैं । (पैरा 9, 10, 12, 13 और 17)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2015] (2015) 11 एस. सी. सी. 588 :
रविन्द्र सिंह बनाम **हरियाणा राज्य** ; 14

[2015] (2015) 3 एस. सी. सी. 441 :
पंजाब राज्य बनाम **बावा सिंह** ; 13

[1991] (1991) 3 एस. सी. सी. 471 :
सेवक पेरुमल और एक अन्य बनाम **तमिलनाडु राज्य** । 15

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2019 की दांडिक अपील सं. 1161.

2016 की दांडिक अपील सं. 11 में बम्बई उच्च न्यायालय, औरंगाबाद पीठ के तारीख 12 जुलाई, 2018 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री उदय बी. दूबे

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री निशांत रमाकांतराव कटनेश्वरकर, सुधांशु एस. चौधरी और संदीप सुधाकर देशमुख

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. बानुमती ने दिया ।

न्या. बानुमती – इजाजत दी गई ।

2. यह अपील 2016 की दांडिक अपील सं. 11 में बम्बई उच्च न्यायालय, औरंगाबाद पीठ द्वारा तारीख 12 जुलाई, 2018 को पारित किए गए उस निर्णय से उद्भूत हुई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी सं. 2-अभियुक्त सं. 1 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि की अभिपुष्टि की और उस पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को सात वर्ष से कम करके पांच वर्ष कर दिया और 25,000/- रुपए की रकम का जुर्माना अधिरोपित किया । जहां तक प्रत्यर्थी सं. 3 और 4-अभियुक्त सं. 2 और 3 का संबंध है, उच्च न्यायालय ने उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन आरोपों से दोषमुक्त कर दिया और इसके बजाय उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 326 के अधीन दोषसिद्ध किया और उन पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को उनके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि तक कम कर दिया तथा उनमें से प्रत्येक पर 25,000/- रुपए का जुर्माना अधिरोपित किया । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1 से 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन दोषसिद्धि और उनमें से प्रत्येक पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को भी कायम रखा ।

3. अपीलार्थी-शिकायतकर्ता ने प्रत्यर्थी सं. 2 से 4 के कारावास के दंडादेश में की गई कमी को चुनौती देते हुए यह अपील फाइल की है । अभियोजन का पक्षकथन यह है कि तारीख 24 जनवरी, 2012 को 5.30 बजे अपराह्न में जब चंद्रकांत (अभि. सा. 6) पनगांव 'टी' प्वाइंट से होकर अपनी भूमि की ओर जा रहा था, तब प्रत्यर्थी सं. 2-देवराज (अभियुक्त-1), जो प्रत्यर्थी सं. 3-आशीष (अभियुक्त-2) और प्रत्यर्थी सं. 4-बालाजी (अभियुक्त-3) के साथ प्रहलाद जोशी नामक व्यक्ति मोबाइल की दुकान के निकट खड़ा था, अभि. सा. 6-चंद्रकांत से पूछा कि उसने प्रत्यर्थी सं. 4-बालाजी (अभियुक्त-3) को उसके खेत में मलवा फैलाने से क्यों रोका था और वहां पर उनके बीच कुछ कहा-सुनी हुई । इस झगड़े में देवराज (अभियुक्त-1) ने अपनी कमर से पिस्तौल निकाली और अभि.

सा. 6-चंद्रकांत पर उसकी छाती में एक गोली दाग दी । आवाज सुनकर, सूर्याकांत (अभि. सा. 7), शिवाजी (अभि. सा. 5) और अन्य व्यक्ति घटनास्थल पर आए । अभियुक्त सं. 2 और 3 अभिकथित रूप से अपने-अपने हाथों में क्रमश: लाठी और पत्थर लिए हुए थे । जब सूर्याकांत (अभि. सा. 7) ने बीच-बचाव करने की कोशिश की, तो अभियुक्त सं. 1 ने अपनी पिस्तौल से एक गोली दाग दी जो अभि. सा. 7 के बाएं घुटने पर लगी । जब शिवाजी फाद (अभि. सा. 5) ने बीच-बचाव करने की कोशिश की तो अभियुक्त व्यक्तियों ने लात-घुसों से उसकी पिटाई की और उस पर चाकू से भी प्रहार किया और उसे गंभीर उपहति कारित की तथा इसके पश्चात् अभियुक्त भाग गए । क्षतिग्रस्त अभि. सा. 6 और अभि. सा. 7 को अस्पताल ले जाया गया और उपचार किया गया । सूर्याकांत (अभि. सा. 7) ने शिकायत दर्ज की, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307, धारा 323 और 506 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई । अन्वेषण पूर्ण होने पर अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307, 323 और 506 तथा आयुध अधिनियम की धारा 25 के साथ पठित धारा 4 के अधीन आरोप पत्र फाइल किया । बाद में, आयुध अधिनियम की धारा 25 के साथ पठित धारा 4 के अधीन आरोप को आयुध अधिनियम की धारा 25 के साथ पठित धारा 3 में परिवर्तित कर दिया गया ।

4. अभियोजन पक्ष ने विचारण में अभियुक्तों की दोषिता को साबित करने के लिए तेरह साक्षियों की परीक्षा की और अनेक दस्तावेज प्रस्तुत किए । विचारण न्यायालय ने क्षतिग्रस्त प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों चंद्रकांत (अभि. सा. 6), सूर्याकांत (अभि. सा. 7) और प्रत्यक्षदर्शी साक्षी राम फाद (अभि. सा. 4) के साक्ष्य के साथ-साथ चिकित्सा साक्ष्य का भी अवलंब लेते हुए तारीख 23 दिसम्बर, 2015 के निर्णय द्वारा अभियुक्त सं. 1 से 3 को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्ध किया और उनमें से प्रत्येक को सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का तथा प्रत्येक द्वारा 15,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने का, इसके व्यतिक्रम खंड सहित, दंडादेश दिया ।

विचारण न्यायालय ने उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन भी दोषसिद्ध किया और उनमें प्रत्येक को छह माह का कठोर कारावास भुगतने और प्रत्येक द्वारा 500/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने, व्यतिक्रम खंड संहित, का दंडादेश दिया । विचारण न्यायालय ने यह निदेश दिया कि अभियुक्तों द्वारा संदत्त जुर्माने की रकम में से क्षतिग्रस्त चंद्रकांत (अभि. सा. 6) और सूर्याकांत (अभि. सा. 7) प्रत्येक को 20,000/- रुपए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 के उपबंध के अनुसार प्रतिकर के रूप में दिए जाएं ।

5. उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल की गई अपील में, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि की अभिपुष्टि की किंतु उस पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को कम करके पांच वर्ष कर दिया । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज को 25,000/- रुपए के जुर्माने का, व्यतिक्रम खंड सहित, संदाय करने का निदेश दिया । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 326 के अधीन भी दोषसिद्ध किया और उस पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को उसके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि तक कम कर दिया तथा उसे 15,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय, व्यतिक्रम खंड सहित, करने का भी निदेश दिया । जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश का संबंध है, उच्च न्यायालय ने उसे बनाए रखा । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 2-आशीष और अभियुक्त सं. 3 -बालाजी को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन आरोप से दोषमुक्त कर दिया और इसके बजाय उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 326 के अधीन दोषसिद्ध किया और उनके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि के कारावास का दंडादेश दिया तथा अभियुक्त सं. 2 और 3 में से प्रत्येक को 25,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने का व्यतिक्रम खंड सहित, निदेश दिया । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 2-आशीष और अभियुक्त सं. 3-बालाजी पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन

अधिरोपित दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखा । अभियुक्तों द्वारा जमा की गई जुर्माने की रकम में से 60,000/- रुपए की राशि अभि. सा. 6-चंद्रकांत और 30,000/- रुपए की राशि अभि. सा. 7-सूर्याकांत को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 के अधीन प्रतिकर के रूप में संदत्त किए जाने का निदेश दिया गया । व्यथित होकर क्षतिग्रस्त शिकायतकर्ता-सूर्याकांत ने यह अपील फाइल की है ।

6. हमने अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री उदय बी. दूबे और प्रत्यर्थी सं. 2 और 3-अभियुक्त सं. 1 और 2 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री सुधांशु एस. चौधरी तथा प्रत्यर्थी सं. 4-अभियुक्त सं. 3 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री संदीप सुधाकर देशमुख और राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री निशांत आर. कटनेश्वरकर को भी सुना तथा आक्षेपित निर्णय और अभिलेख पर सामग्री का परिशीलन किया ।

7. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी कि अभियुक्त सं. 1-देवराज ने अभि. सा. 6-चंद्रकांत की छाती में गोली मारी थी, जो उसकी छाती को भेदती हुए आर-पार हो गई थी और पीठ की तरफ से बाहर निकल गई थी और अभि. सा. 11-डा. मनोज लांदजे ने यह राय व्यक्त की थी कि अभि. सा. 6-चंद्रकांत को पहुंची क्षति गंभीर प्रकृति की थी, जो मृत्यु कारित करने योग्य थी और ऐसा होते हुए, उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी-अभियुक्तों के साथ अनुचित सहानुभूति दिखाकर और उन पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को कम करके ठीक नहीं किया था ।

8. प्रत्यर्थी सं. 2 से 4-अभियुक्त सं. 1 से 3 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों तथा प्रत्यर्थी सं. 3 और 4 की आयु तथा अन्य परिस्थितियों पर विचार करते हुए उच्च न्यायालय ने कारावास के दंडादेश को कम करने और साथ ही दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 के अधीन उपबंध के अनुसार प्रतिकर के रूप में संदत्त की जाने वाली रकम में वृद्धि करने में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग किया था और कारावास

के दंडादेश को कम करने वाले आक्षेपित निर्णय में कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है ।

9. भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध करने वाले व्यक्ति को आजीवन कारावास भुगतने का आदेश किया जा सकता है । भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि को न्यायोचित्य ठहराने के लिए, मृत्यु कारित करने का आशय या कृत्य ऐसी क्षति कारित करने के आशय से किया गया था जिससे मृत्यु कारित होना संभाव्य है, अपराध का गठन करने के लिए आवश्यक है । यद्यपि, वास्तव में कारित की गई क्षति की प्रकृति अभियुक्त के आशय के बारे में निष्कर्ष पर पहुंचने में पर्याप्त सहायक होगी । ऐसे आशय का अवकलन अन्य परिस्थितियों से भी किया जा सकता है ।

10. अभियुक्त सं. 1-देवराज सेना में सेवारत था और उसके पास पिस्तौल रखने की अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) थी । यदि क्षतिग्रस्त साक्षियों अभि. सा. 6-चंद्रकांत और अभि. सा. 7-सूर्याकांत तथा प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभि. सा. 4-राम फाद के साक्ष्य पर समग्र रूप से विचार किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अभियुक्त सं. 1-देवराज का अभि. सा. 6-चंद्रकांत को सबक सिखाने का आशय यह था कि उसने अभियुक्त सं. 3-बालाजी को उसके खेत में मलबा फैलाने का क्यों विरोध किया था और उनके बीच इसे लेकर कुछ गर्मा-गर्मी हुई थी । अभि. सा. 1-देवराज पिस्तौल लिए हुए था और अभि. सा. 6-चंद्रकांत को उसकी छाती में गोली मार दी, जो उसकी छाती के आर-पार हो गई । जब अभि. सा. 7-सूर्याकांत ने हस्तक्षेप करने की कोशिश की तो अभियुक्त सं. 1-देवराज ने अभि. सा. 7-सूर्याकांत पर भी गोली चला दी ।

11. इस घटना में अभि. सा. 6 और 7 को निम्नलिखित क्षतियां पहुंची :–

"**अभि. सा. 6 – चंद्रकांत के शरीर पर पाई गई क्षतियां**

(1) उरोस्थि-पूर्व क्षेत्र के निचले 1/3 भाग पर 2×2 सें. मी. अंडाकार छह घंटे से कम पुराना वेधित घाव ।

(2) छाती की दाईं तरफ पश्च-कक्षीय रेखा पर लगभग सात आंतरिक पसलियों के फासले पर, छह घंटे से कम पुराना, 2×2 सें. मी. अंडाकार वेधित घाव ।

(3) खोपड़ी पर बाएं पश्च अनुकपाल क्षेत्र पर 2×1×0.5 सें. मी. आकार का साधारण प्रकृति का, छह घंटे से कम पुराना अंत:क्षति का विदीर्ण घाव ।

अभि. सा. 7 – सूर्याकांत के शरीर पर पाई गई क्षतियां

(1) बाएं घुटने के ऊपरी भाग के पार्श्विक अवस्थान पर 2×2 सें. मी. का अंडाकार, छह घंटे से कम पुराना, साधारण प्रकृति का वेधित घाव ।

(2) घुटने की संधि के मेडिकल अस्पेक्ट पर 2×2 सें. मी. अंडाकार, छह घंटे से कम पुराना, वेधित घाव । प्रकृति गंभीर । एक्स-रे से घुटने की हड्डी के सिरे के उभरे हुए भाग का विस्थापित अस्थिभंग दर्शित होता है ।"

गोली की क्षति अभि. सा. 6-चंद्रकांत की छाती को भेदती हुई आर-पार हो गई थी और पीठ की तरफ से बाहर निकल गई थी । अभि. सा. 11-डा. मनोज लांदजे ने अपने साक्ष्य में विनिर्दिष्ट रूप से कथन किया कि अभि. सा. 6-चंद्रकांत को कारित क्षति सं. 1 और 2 मृत्यु कारित करने योग्य थी । जहां तक अभि. सा. 7-सूर्याकांत को कारित क्षतियों का संबंध है, अभि. सा. 11-डा. मनोज लांदजे ने यह राय व्यक्त की कि वे जीवन के लिए घातक नहीं थी ।

12. दंडादेश की मात्रा पर विचार करते समय न्यायालयों से मामले के सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों, विशिष्ट रूप से, घटना में कारित की गई क्षतियों और प्रयुक्त किए गए आयुध की प्रकृति पर विचार करने की प्रत्याशा की जाती है, जिनका दंडादेश के प्रश्न के लिए महत्व है और न्यायालय अपराध की गंभीरता के अनुरूप दंडादेश अधिरोपित करने के लिए आबद्ध हैं । अभि. सा. 6-चंद्रकांत को कारित

क्षतियों की प्रकृति अर्थात् छाती में गोली मारने के घाव और डाक्टर की राय कि अभि. सा. 6 को कारित क्षतियां मृत्यु कारित करने योग्य हैं, पर विचार करते हुए, हमारे मत में, उच्च न्यायालय ने प्रथम अभियुक्त-देवराज के दंडादेश को कम करके ठीक नहीं किया है ।

13. दंडादेश अधिनिर्णीत करने का प्रश्न न्यायालयों के विवेकाधिकार का विषय है और इसे मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करके प्रयोग किया जाना चाहिए । यद्यपि, न्यायालय को दंडादेश अधिनिर्णीत करने का विवेकाधिकार है, तो भी यह अपराध की गंभीरता के अनुरूप होना चाहिए । न्यायालय को दंडादेश के चयन को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त कारण अभिलिखित करने चाहिए । **पंजाब राज्य** बनाम **बावा सिंह**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने पैरा (16) में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

> "16. ..... अपर्याप्त दंडादेश अधिरोपित करने के लिए अनुचित सहानुभूति से विधि की प्रभावकारिता में जनता का विश्वास क्षीण होने से न्याय व्यवस्था को अधिक अपहानि कारित होगी । प्रत्येक न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपराध की प्रकृति और रीति जिसमें यह निष्पादित या कारित किया गया था, को ध्यान में रखते हुए उचित दंडादेश अधिनिर्णीत करे । दंडादेश देने वाले न्यायालयों से यह प्रत्याशा की जाती है कि वे दंडादेश के प्रश्न से सरोकार रखने वाले सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करें और अपराध की गंभीरता के अनुरूप दंडादेश अधिरोपित करने के लिए अग्रसर हों । न्यायालय को समुचित दंडादेश के अधिरोपण पर विचार करते समय न केवल अपराध के शिकार व्यक्ति के अधिकारों को अपितु बृहत समाज के अधिकारों को भी ध्यान में रखना चाहिए । अपराध की कोटि पर विचार किए बिना केवल समय बीत जाने के कारण अधिरोपित कम दंडादेश अंततोगत्वा अनुपयोगी और समाज के हित के विरुद्ध होगा ।"

---

[1] (2015) 3 एस. सी. सी. 441.

14. **रविन्द्र सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया है :–

> "11. दंडादेश का प्रश्न सदैव एक कठिन कार्य रहा है जिसके लिए विभिन्न बातों का संतुलन बनाए रखना आवश्यक है । दंडादेश अधिनिर्णीत करने का प्रश्न अलग-अलग मामलों में गुरुत्तरकारी और कम करने वाली परिस्थितियों पर विचार करके प्रयोग किया जाने वाला विवेकाधिकार का विषय है । न्यायालयों का सतत् यह दृष्टिकोण रहा है कि अपराध की गंभीरता और दंड के बीच एक युक्तियुक्त अनुपात बनाए रखा जाए । जबकि यह सत्य है कि अननुपातिक रूप से ऐसा कठोर दंडादेश पारित नहीं करना चाहिए जो न्यायालय को ऐसा दंडादेश अधिनिर्णीत करने का विकल्प न देता हो जो स्पष्ट रूप से अपर्याप्त हो । न्याय की पुकार यह है कि न्यायालयों को अपराध के अनुरूप दंड अधिरोपित करना चाहिए जिससे कि न्यायालय अपराध के प्रति जनता की घृणा को प्रतिबिम्बित कर सकें ।

15. **सेवक पेरुमल और एक अन्य** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[2] वाले मामले में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :–

> "10. .....अपर्याप्त दंडादेश अधिरोपित करने के लिए अनुचित सहानुभूति से विधि की प्रभावकारिता में जनता का विश्वास क्षीण होने से न्याय व्यवस्था को अधिक अपहानि कारित होगी और समाज गंभीर भय के अधीन ज्यादा देर तक टिका नहीं रह सकता । यदि न्यायालय क्षतिग्रस्त की संरक्षा नहीं करते हैं, तो क्षतिग्रस्त फिर प्राइवेट प्रतिशोध का आश्रय लेने लगेंगे । अत: प्रत्येक न्यायालय का कर्तव्य है कि अपराध की प्रकृति और वह रीति आदि जिसमें यह अपराध निष्पादित या कारित किया गया था, को ध्यान में रखते हुए उचित दंडादेश अधिनिर्णीत करे ।"

---

[1] (2015) 11 एस. सी. सी. 588.

[2] (1991) 3 एस. सी. सी. 471.

16. अभि. सा. 6-चंद्रकांत और अभि. सा. 7 सूर्याकांत को पहुंची क्षतियों की प्रकृति और मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों पर विचार करते हुए, विचारण न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1-देवराज को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्ध किया और उसे 15,000/- रुपए के जुर्माने सहित सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया था । जब विचारण न्यायालय ने सात वर्ष के कारावास का दंडादेश अधिरोपित करने में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग किया है, तो उच्च न्यायालय को अभियुक्त सं. 1 द्वारा प्रयुक्त आयुध को और अभि. सा. 6-चंद्रकांत को पहुंची क्षतियों तथा डाक्टर की राय को ध्यान में रखना चाहिए था । न्यायालयों को न केवल अभियुक्त के अधिकार को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए अपितु विपदग्रस्त और बृहत समाज के हित को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए । न्यायालयों का सतत् यह दृष्टिकोण रहा है कि अपराध की गंभीरता और दंड के बीच एक युक्तियुक्त अनुपात बनाए रखा जाए । जबकि यह सत्य है कि अभियुक्त पर अधिरोपित दंडादेश कठोर नहीं होना चाहिए तो भी दंडादेश की अपर्याप्तता से विपदग्रस्त और संपूर्ण समाज को कष्ट झेलना पड़ सकता है । जहां तक प्रथम अभियुक्त - देवराज का संबंध है, उच्च न्यायालय ने प्रथम अभियुक्त पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को कम करके ठीक नहीं किया था । जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, उच्च न्यायलाय ने कारावास के दंडादेश को सात वर्ष से कम करके पांच वर्ष कर दिया था और जुर्माने की रकम में वृद्धि करके 25,000/- रुपए कर दी थी और उक्त जुर्माने का कुछ भाग क्षतिग्रस्त अभि. सा. 6-चंद्रकांत और अभि. सा. 7-सूर्याकांत को प्रतिकर के रूप में संदत्त किए जाने का आदेश किया था । चूंकि वृद्धि किए गए प्रतिकर को अभियुक्त सं. 1 द्वारा संदत्त कर दिया गया था, जिसे कथित रूप से क्षतिग्रस्त-विपदग्रस्तों द्वारा प्रत्याहृत कर लिया गया है, इसलिए प्रथम अभियुक्त-देवराज भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि के लिए छह वर्ष और छह माह का कठोर कारावास भुगतेगा ।

17. जहां तक प्रत्यर्थी सं. 3 और 4-अभियुक्त सं. 2 और 3 का

संबंध है, घटना के समय पर वे आयुधों से लैस नहीं थे । अभियुक्त सं. 2 और 3 ने क्षतिग्रस्त पर अभिकथित रूप से लात-घुसों और लाठियों से हमला किया था । मामले के तथ्यों और परिस्थितियों तथा अभिलेख पर साक्ष्य पर विचार करते हुए, हम अभियुक्त सं. 2 और 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषमुक्ति में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं है । जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 323 के अधीन दोषसिद्धि का संबंध है, उच्च न्यायालय ने इस बात को विचार में लिया कि घटना के समय अभियुक्त सं. 2-आशीष की आयु 19 वर्ष थी और अभियुक्त सं. 3-बालाजी की आयु 38 वर्ष थी और उनकी आयु तथा पारिवारिक परिस्थितियों और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि उनकी आपराधिक पृष्ठभूमि नहीं है, उच्च न्यायालय ने छह माह के दंडादेश को उनके द्वारा पहले ही भुगत ली गई अवधि तक कम करना उचित समझा । चूंकि अभियुक्त सं. 2 और 3 आक्रामक आयुधों से लैस नहीं थे, हम उनकी भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषमुक्ति और भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 326 के अधीन दंडादेश के कारावास में की गई कमी में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं हैं ।

18. परिणामत:, 2016 की दांडिक अपील सं. 11 में उच्च न्यायालय के तारीख 12 जुलाई, 2018 के आक्षेपित निर्णय को अपास्त किया जाता है । भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्धि के लिए द्वितीय प्रत्यर्थी-अभियुक्त सं. 1-देवराज को छह वर्ष और छह माह का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया जाता है और अपील भागत: मंजूर की जाती है । प्रत्यर्थी सं. 3 और अभियुक्त सं. 2 और 3 की भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषमुक्ति की अभिपुष्टि की जाती है और उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 326 के अधीन दोषसिद्ध करते हुए और अभियुक्त सं. 2 और 3 पर अधिरोपित कारावास के दंडादेश को पहले ही भुगत ली गई अवधि तक कम करते हुए उच्च न्यायालय के निर्णय की अभिपुष्टि की जाती है और प्रत्यर्थी

सं. 3 और 4-अभियुक्त सं. 2 और 3 के संबंध में अपील खारिज की जाती है । जहां तक अभियुक्तों पर अधिरोपित जुर्माने की रकम और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357 के अधीन क्षतिग्रस्तों को प्रतिकर का संदाय करने के उच्च न्यायालय के निदेश का संबंध है, इसे कायम रखा जाता है ।

19. अभियुक्त सं. 1-देवराज को निदेश जाता है कि वह शेष दंडादेश भुगतने के लिए आज से चार सप्ताह के भीतर अभ्यर्पण करेगा और असफल रहने पर उसे अभिरक्षा में लिया जाएगा ।

अपील भागत: मंजूर की गई ।

जस.

संसद् के अधिनियम

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989

(1989 का अधिनियम संख्यांक 33)

[11 सितंबर, 1989]

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों पर अत्याचार का अपराध करने का निवारण करने के लिए, ऐसे अपराधों के निवारण के लिए विशेष न्यायालयों का तथा ऐसे अपराधों से पीड़ित व्यक्तियों को राहत देने का और उनके पुनर्वास का तथा उससे संबंधित या उसके आनुषंगिक विषयों का उपबंध करने के लिए अधिनियम

भारत गणराज्य के चालीसवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

अध्याय 1
प्रारम्भिक

1. संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारंभ – (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 है ।

(2) इसका विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय संपूर्ण भारत पर है ।

(3) यह उस तारीख को प्रवृत्त होगा जो केंद्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे ।

2. परिभाषाएं – (1) इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, –

(क) "अत्याचार" से धारा 3 के अधीन दंडनीय अपराध अभिप्रेत है ;

(ख) "संहिता" से दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

अभिप्रेत है ;

(ग) "अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों" के वही अर्थ हैं जो संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (24) और खंड (25) में हैं ;

(घ) "विशेष न्यायालय" से धारा 14 में विशेष न्यायालय के रूप में विनिर्दिष्ट कोई सेशन न्यायालय अभिप्रेत है ;

(ङ) "विशेष लोक अभियोजक" से विशेष लोक अभियोजक के रूप में विनिर्दिष्ट लोक अभियोजक या धारा 15 में निर्दिष्ट अधिवक्ता अभिप्रेत है ;

(च) उन शब्दों और पदों के, जो इस अधिनियम में प्रयुक्त है किन्तु परिभाषित नहीं हैं और संहिता या भारतीय दंड संहिता में परिभाषित हैं, वही अर्थ हैं, जो, यथास्थिति, संहिता में या भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) में है ।

(2) इस अधिनियम में किसी अधिनियमिति या उसके किसी उपबंध के प्रति किसी निर्देश का अर्थ किसी ऐसे क्षेत्र के संबंध में जिसमें ऐसी अधिनियमिति या ऐसा उपबंध प्रवृत्त नहीं है यह लगाया जाएगा कि वह उस क्षेत्र में प्रवृत्त तत्स्थानी विधि, यदि कोई हो, के प्रतिनिर्देश है ।

अध्याय 2
अत्याचार के अपराध

3. अत्याचार के अपराधों के लिए दंड – (1) कोई भी व्यक्ति, जो अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य नहीं है –

(i) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को अखाद्य या घृणाजनक पदार्थ पीने या खाने के लिए मजबूर करेगा ;

(ii) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य के परिसर या पड़ोस में मल-मूत्र, कूड़ा, पशु-शव या कोई अन्य घृणाजनक पदार्थ इकट्ठा करके उसे क्षति पहुंचाने, अपमानित करने या क्षुब्ध करने के आशय से कार्य करेगा ;

(iii) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य के शरीर से बलपूर्वक कपड़े उतारेगा या उसे नंगा या उसके चेहरे या शरीर को पोतकर घुमाएगा या इसी प्रकार का कोई अन्य ऐसा कार्य करेगा जो मानव के सम्मान के विरुद्ध है ;

(iv) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य के स्वामित्वाधीन या उसे आबंटित या किसी सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसे आबंटित किए जाने के लिए अधिसूचित किसी भूमि को सदोष अधिभोग में लेगा या उस पर खेती करेगा या उसे आबंटित भूमि को अंतरित करा लेगा ;

(v) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को उसकी भूमि या परिसर से सदोष बेकब्जा करेगा या किसी भूमि, परिसर या जल पर उसके अधिकारों के उपभोग में हस्तक्षेप करेगा ;

(vi) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को 'बेगार' करने के लिए या सरकार द्वारा लोक प्रयोजनों के लिए अधिरोपित किसी अनिवार्य सेवा से भिन्न अन्य समरूप प्रकार के बलाश्रम या बंधुआ मजदूरी के लिए विवश करेगा या फुसलाएगा ;

(vii) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को मतदान न करने के लिए या किसी विशिष्ट अभ्यर्थी के लिए मतदान करने के लिए या विधि द्वारा उपबंधित से भिन्न रीति से मतदान करने के लिए मजबूर या अभित्रस्त करेगा ;

(viii) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य के विरुद्ध मिथ्या, द्वेषपूर्ण या तंग करने वाला वाला वाद या दांडिक या अन्य विधिक कार्यवाही संस्थित करेगा ;

(ix) किसी लोकसेवक को कोई मिथ्या या तुच्छ जानकारी देगा और उसके द्वारा अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को क्षति पहुंचाने या क्षुब्ध करने के लिए ऐसे लोकसेवक से उसकी विधिपूर्ण शक्ति का प्रयोग कराएगा ;

(x) जनता को दृष्टिगोचर किसी स्थान में अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य का अपमान करने के आशय

से साशय उसको अपमानित या अभित्रस्त करेगा ;

(xi) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति की किसी महिला का अनादर करने या उसकी लज्जा भंग करने के आशय से हमला या बल प्रयोग करेगा ;

(xii) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति की किसी महिला की इच्छा को अधिशासित करने की स्थिति में होने पर उस स्थिति का प्रयोग उसका लैंगिक शोषण करने के लिए, जिसके लिए वह अन्यथा सहमत नहीं होती, करेगा ;

(xiii) किसी स्रोत, जलाशय या किसी अन्य उद्‌गम के जल को जो आम तौर पर अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के सदस्यों द्‌वारा उपयोग में लाया जाता है, दूषित या गंदा करेगा जिससे कि वह उस प्रयोजन के लिए कम उपयुक्त हो जाए जिसके लिए उसका आमतौर पर प्रयोग किया जाता है ;

(xiv) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को सार्वजनिक अभिगम के स्थान के मार्ग के किसी रूढ़िजन्य अधिकार से वंचित करेगा या ऐसे सदस्य को बाधा पहुंचाएगा जिससे कि वह ऐसे सार्वजनिक अभिगम के स्थान का उपयोग करने या वहां पहुंचने से निवारित हो जाए जहां जनता के अन्य सदस्यों या उसके किसी भाग को उपयोग करने का या पहुंचाने का अधिकार है ;

(xv) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को अपना मकान, गांव या अन्य निवास स्थान छोड़ने के लिए मजबूर करेगा या कराएगा ;

वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी किन्तु जो पांच वर्ष तक की हो सकेगी और जुर्माने से, दंडनीय होगा ।

(2) कोई भी व्यक्ति, जो अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य नहीं है, –

(i) मिथ्या साक्ष्य देगा या गढ़ेगा जिससे उसका आशय

अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को किसी ऐसे अपराध के लिए जो तत्समय प्रवृत्त विधि द्वारा मृत्यु दंड से दंडनीय है, दोषसिद्ध कराना है या वह यह जानता है कि इससे उसका दोषसिद्ध होना संभाव्य है, वह आजीवन कारावास से और जुर्माने से दंडनीय होगा ; और यदि अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी निर्दोष सदस्य को ऐसे मिथ्या या गढ़े हुए साक्ष्य के फलस्वरूप दोषसिद्ध किया जाता है और फांसी दी जाती है तो वह व्यक्ति, जो ऐसा मिथ्या साक्ष्य देता है या गढ़ता है, मृत्यु दंड से दंडनीय होगा ;

(ii) मिथ्या साक्ष्य देगा या गढ़ेगा जिससे उसका आशय अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को ऐसे अपराध के लिए जो मृत्यु दंड से दंडनीय नहीं है किन्तु सात वर्ष या उससे अधिक की अवधि के कारावास से दंडनीय है, दोषसिद्ध कराना है या वह यह जानता है कि उससे उसका दोषसिद्ध होना संभाव्य है, वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी किन्तु जो सात वर्ष या उससे अधिक की हो सकेगी और जुर्माने से, दंडनीय होगा ;

(iii) अग्नि या किसी विस्फोटक पदार्थ द्वारा रिष्टि करेगा जिससे उसका आशय अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य की किसी सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाना है या वह यह जानता है कि उससे ऐसा होना संभाव्य है वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी किन्तु जो सात वर्ष तक की हो सकेगी और जुर्माने से, दंडनीय होगा ;

(iv) अग्नि या किसी विस्फोटक पदार्थ द्वारा रिष्टि करेगा जिससे उसका आशय किसी ऐसे भवन को जो अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य द्वारा साधारणत: पूजा के स्थान के रूप में या मानव आवास के स्थान के रूप में या संपत्ति की अभिरक्षा के लिए किसी स्थान के रूप में उपयोग किया जाता है, नष्ट करता है या वह यह जानता है कि उससे ऐसा होना संभाव्य है, वह आजीवन कारावास से, और जुर्माने से, दंडनीय होगा ;

(v) भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) के अधीन दस वर्ष या उससे अधिक की अवधि के कारावास से दंडनीय कोई अपराध किसी व्यक्ति या सम्पत्ति के विरुद्ध इस आधार पर करेगा कि ऐसा व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य है या ऐसी सम्पत्ति ऐसे सदस्य की है, वह आजीवन कारावास से, और जुर्माने से दंडनीय होगा ;

(vi) यह जानते हुए या यह विश्वास करने का कारण रखते हुए कि इस अध्याय के अधीन कोई अपराध किया गया है, वह अपराध किए जाने के किसी साक्ष्य को, अपराधी को विधिक दंड से बचाने के आशय से गायब करेगा या उस आशय से अपराध के बारे में कोई ऐसी जानकारी देगा जो वह जानता है या विश्वास करता है कि वह मिथ्या है, वह उस अपराध के लिए उपबंधित दंड से दंडनीय होगा ; या

(vii) लोक सेवक होते हुए इस धारा के अधीन कोई अपराध करेगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि एक वर्ष से कम की नहीं होगी किन्तु जो उस अपराध के लिए उपबंधित दंड तक हो सकेगी, दंडनीय होगा ।

4. कर्तव्यों की उपेक्षा के लिए दंड – कोई भी लोक सेवक, जो अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य नहीं है, इस अधिनियम के अधीन उसके द्वारा पालन किए जाने के लिए अपेक्षित अपने कर्तव्यों की जानबूझकर उपेक्षा करेगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी किन्तु जो एक वर्ष तक की हो सकेगी, दंडनीय होगा ।

5. पश्चात्वर्ती दोषसिद्धि के लिए वर्धित दंड – कोई व्यक्ति, जो इस अध्याय के अधीन किसी अपराध के लिए पहले ही दोषसिद्ध हो चुका है ; दूसरे अपराध या उसके पश्चात्वर्ती किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाता है, वह कारावास से, जिसकी अवधि एक वर्ष से कम की नहीं होगी किन्तु जो उस अपराध के लिए उपबंधित दंड तक हो सकेगी, दंडनीय होगा ।

6. भारतीय दंड संहिता के कतिपय उपबंधों का लागू होना – इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए ; भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 34, अध्याय 3, अध्याय 4, अध्याय 5, अध्याय 5क, धारा 149 और अध्याय 23 के उपबंध, जहां तक हो सके, इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए उसी प्रकार लागू होंगे जिस प्रकार वे भारतीय दंड संहिता के प्रयोजनों के लिए लागू होते हैं ।

7. कतिपय व्यक्तियों की संपत्ति का समपहरण – (1) जहां कोई व्यक्ति इस अध्याय के अधीन दंडनीय किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है वहां विशेष न्यायालय, कोई दंड देने के अतिरिक्त, लिखित रूप में आदेश द्वारा, यह घोषित कर सकेगा कि उस व्यक्ति की कोई संपत्ति, स्थावर या जंगम, या दोनों, जिनका उस अपराध को करने में प्रयोग किया गया है, सरकार को समपहृत हो जाएगी ।

(2) जहां कोई व्यक्ति इस अध्याय के अधीन किसी अपराध का अभियुक्त है, वहां उसका विचारण करने वाला विशेष न्यायालय ऐसा आदेश करने के लिए स्वतंत्र होगा कि उसकी सभी या कोई संपत्ति, स्थावर या जंगम या दोनों, ऐसे विचारण की अवधि के दौरान, कुर्क की जाएगी और जहां ऐसे विचारण का परिणाम दोषसिद्धि है वहां इस प्रकार कुर्क की गई संपत्ति उस सीमा तक समपहरण के दायित्वाधीन होगी जहां तक वह इस अध्याय के अधीन अधिरोपित किसी जुर्माने की वसूली के प्रयोजन के लिए अपेक्षित है ।

8. अपराधों के बारे में उपधारणा – इस अध्याय के अधीन किसी अपराध के लिए अभियोजन में, यदि वह साबित हो जाता है कि –

(क) अभियुक्त ने इस अध्याय के अधीन अपराध करने के लिए अभियुक्त व्यक्ति की, या युक्तियुक्त रूप से संदेहास्पद व्यक्ति की कोई वित्तीय सहायता की है तो विशेष न्यायालय, जब तक कि तत्प्रतिकूल साबित न किया जाए, यह उपधारणा करेगा कि ऐसे व्यक्ति ने उस अपराध का दुष्प्रेरण किया है ;

(ख) व्यक्तियों के किसी समूह ने इस अध्याय के अधीन

अपराध किया है, और यदि यह साबित हो जाता है कि किया गया अपराध भूमि या किसी अन्य विषय के बारे में किसी विद्यमान विवाद का फल है तो यह उपधारणा की जाएगी कि यह अपराध सामान्य आशय या सामान्य उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए किया गया था ।

9. शक्तियों का प्रदान किया जाना – (1) संहिता में या इस अधिनियम के किसी अन्य उपबंध में किसी बात के होते हुए भी, यदि राज्य सरकार ऐसा करना आवश्यक या समीचीन समझती है, तो वह –

(क) इस अधिनियम के अधीन किसी अपराध के निवारण के लिए और उससे निपटाने के लिए, या

(ख) इस अधिनियम के अधीन किसी मामले या मामलों के वर्ग या समूह के लिए,

किसी जिले या उनके किसी भाग में, राज्य सरकार के किसी अधिकारी को राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, ऐसे जिले या उसके भाग में संहिता के अधीन पुलिस अधिकारी द्वारा प्रयोक्तव्य शक्तियां या, यथास्थिति, ऐसे मामले या मामलों के वर्ग या समूह के लिए, और विशिष्टतया किसी विशेष न्यायालय के समक्ष व्यक्तियों की गिरफ्तारी, अन्वेषण और अभियोजन की शक्तियां प्रदान कर सकेगी ।

(2) पुलिस के सभी अधिकारी और सरकार के अन्य सभी अधिकारी इस अधिनियम के या उनके अधीन बनाए गए किसी नियम, स्कीम या आदेश के उपबंधों के निष्पादन में उपधारा (1) में निर्दिष्ट अधिकारी की सहायता करेंगे ।

(3) संहिता के उपबंध, जहां तक हो सके, उपधारा (1) के अधीन किसी अधिकारी द्वारा शक्तियों के प्रयोग के संबंध में लागू होंगे ।

अध्याय 3
निष्कासन

10. ऐसे व्यक्ति का हटाया जाना जिसके द्वारा अपराध किए जाने की संभावना है – (1) जहां विशेष न्यायालय का, परिवाद या पुलिस

रिपोर्ट पर, यह समाधान हो जाता है कि संभाव्यता है कि कोई व्यक्ति संविधान के अनुच्छेद 224 में यथानिर्दिष्ट 'अनुसूचित क्षेत्रों' या 'जनजाति क्षेत्रों' में सम्मिलित किसी क्षेत्र में इस अधिनियम के अध्याय 2 के अधीन कोई अपराध करेगा वहां वह, लिखित आदेश द्वारा, ऐसे व्यक्ति को यह निदेश दे सकेगा कि वह ऐसे क्षेत्र की सीमाओं से परे, ऐसे मार्ग से होकर और इतने समय के भीतर हट जाए, जो आदेश में विनिर्दिष्ट किए जाएं, और दो वर्ष से अनधिक ऐसी अवधि के लिए जो आदेश में विनिर्दिष्ट की जाए, उस क्षेत्र में जिससे हट जाने का उसे निदेश दिया गया था, वापस न लौटे ।

(2) विशेष न्यायालय, उपधारा (1) के अधीन आदेश के साथ उस उपधारा के अधीन निर्दिष्ट व्यक्ति को वे आधार संसूचित करेगा जिन पर वह आदेश किया गया है ।

(3) विशेष न्यायालय, उस व्यक्ति द्वारा जिसके विरुद्ध ऐसा आदेश किया गया है, या उसकी ओर से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा आदेश की तारीख से तीस दिन के भीतर किए गए अभ्यावेदन पर ऐसे कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे उपधारा (1) के अधीन किए गए आदेश को प्रतिसंहृत या उपान्तरित कर सकेगा ।

11. किसी व्यक्ति द्वारा संबंधित क्षेत्र से हटने में असफल रहने और वहां से हटने के पश्चात् उसमें प्रवेश करने की दशा में प्रक्रिया – (1) यदि कोई व्यक्ति जिसको धारा 10 के अधीन किसी क्षेत्र से हट जाने के लिए कोई निदेश जारी किया गया है –

(क) निदेश किए गए रूप में हटने में असफल रहता है; या

(ख) इस प्रकार हटने के पश्चात् उपधारा (2) के अधीन विशेष न्यायालय की लिखित अनुज्ञा के बिना उस क्षेत्र में ऐसे आदेश में विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर प्रवेश करता है,

तो विशेष न्यायालय उसे गिरफ्तार करा सकेगा और उसे उस क्षेत्र के बाहर ऐसे स्थान पर, जो विशेष न्यायालय विनिर्दिष्ट करे, पुलिस अभिरक्षा में हटवा सकेगा ।

(2) विशेष न्यायालय, लिखित आदेश द्वारा, किसी ऐसे व्यक्ति

को जिसके विरुद्ध धारा 10 के अधीन आदेश किया गया है, अनुज्ञा दे सकेगा कि वह उस क्षेत्र में जहां से हट जाने का उसे निदेश दिया गया था ऐसी अस्थायी अवधि के लिए और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो ऐसे आदेश में विनिर्दिष्ट की जाएं, लौट सकता है और अधिरोपित शर्तों के सम्यक् अनुपालन के लिए उससे अपेक्षा कर सकेगा कि वह प्रतिभू सहित या उसके बिना, बंधपत्र निष्पादित करे ।

(3) विशेष न्यायालय किसी भी समय ऐसी अनुज्ञा को प्रतिसंहृत कर सकेगा ।

(4) ऐसा व्यक्ति, जो ऐसी अनुज्ञा से उस क्षेत्र में वापस आता है, जिससे उसे हटने के लिए निदेश दिया गया था, अधिरोपित शर्तों का अनुपालन करेगा और जिस अस्थायी अवधि के लिए लौटने की उसे अनुज्ञा दी गई थी उसके अवसान पर या ऐसी अस्थायी अवधि के अवसान के पूर्व ऐसी अनुज्ञा के प्रतिसंहृत किए जाने पर ऐसे क्षेत्र से बाहर हट जाएगा और धारा 10 के अधीन विनिर्दिष्ट अवधि के अनवसित भाग के भीतर नई अनुज्ञा के बिना वहां नहीं लौटेगा ।

(5) यदि कोई व्यक्ति अधिरोपित शर्तों में से किसी का पालन करने में या तद्नुसार स्वयं को हटाने में असफल रहेगा या इस प्रकार हट जाने के पश्चात् ऐसे क्षेत्र में नई अनुज्ञा के बिना प्रवेश करेगा या लौटेगा तो विशेष न्यायालय उसे गिरफ्तार करा सकेगा और उसे उस क्षेत्र के बाहर ऐसे स्थान को, जो विशेष न्यायालय विनिर्दिष्ट करे, पुलिस अभिरक्षा में हटवा सकेगा ।

12. ऐसे व्यक्तियों के, जिनके विरुद्ध धारा 10 के अधीन आदेश किया गया है, माप और फोटो आदि लेना – (1) प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिसके विरुद्ध धारा 10 के अधीन आदेश किया गया है, विशेष न्यायालय द्वारा ऐसी अपेक्षा की जाने पर, किसी पुलिस अधिकारी को अपने माप और फोटो लेने देगा ।

(2) यदि उपधारा (1) में निर्दिष्ट कोई व्यक्ति, जिससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने माप या फोटो लेने दे, इस प्रकार माप या फोटो लिए जाने का प्रतिरोध करता है या उससे इनकार करता है, तो यह विधिपूर्ण होगा कि माप या फोटो लिए जाने को सुनिश्चित करने के लिए

सभी आवश्यक उपाय किए जाएं ।

(3) उपधारा (2) के अधीन लिए जाने वाले माप या फोटो का प्रतिरोध या उससे इनकार करने को भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 186 के अधीन अपराध समझा जाएगा ।

(4) जहां धारा 10 के अधीन किया गया आदेश प्रतिसंहृत कर दिया जाता है वहां उपधारा (2) के अधीन लिए गए सभी माप और फोटो (जिसके अंतर्गत नेगेटिव भी है) नष्ट कर दिए जाएंगे या उस व्यक्ति को सौंप दिए जाएंगे जिसके विरुद्ध आदेश किया गया था ।

13. धारा 10 के अधीन आदेश के अननुपालन के लिए शास्ति – वह व्यक्ति, जो धारा 10 के अधीन किए गए विशेष न्यायालय के आदेश का उल्लंघन करेगा, कारावास से, जिसकी अवधि एक वर्ष तक की हो सकेगी और जुर्माने से, दंडनीय होगा ।

अध्याय 4
विशेष न्यायालय

14. विशेष न्यायालय – राज्य सरकार, शीघ्र विचारण का उपबंध करने के प्रयोजन के लिए, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की सहमति से, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, इस अधिनियम के अधीन अपराधों का विचारण करने के लिए प्रत्येक जिले के लिए एक सेशन न्यायालय को विशेष न्यायालय के रूप में विनिर्दिष्ट करेगी ।

15. विशेष लोक अभियोजक – राज्य सरकार, प्रत्येक विशेष न्यायालय के लिए, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, एक लोक अभियोजक विनिर्दिष्ट करेगी या किसी ऐसे अधिवक्ता को, जिसने कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता के रूप में विधि-व्यवसाय किया हो, उस न्यायालय में मामलों के संचालन के प्रयोजन के लिए विशेष लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त करेगी ।

अध्याय 5
प्रकीर्ण

16. राज्य सरकार की सामूहिक जुर्माना अधिरोपित करने की शक्ति – सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 (1955 का 22) की धारा

10क के उपबन्ध, जहां तक हो सके, इस अधिनियम के अधीन सामूहिक जुर्माना अधिरोपित करने और उसे वसूल करने के प्रयोजनों के लिए और उससे संबद्ध सभी अन्य विषयों के लिए लागू होंगे ।

17. विधि और व्यवस्था तंत्र द्वारा निवारक कार्रवाई – (1) यदि जिला मजिस्ट्रेट या उपखंड मजिस्ट्रेट या किसी अन्य कार्यपालक मजिस्ट्रेट या किसी पुलिस अधिकारी को, जो पुलिस उप-अधीक्षक की पंक्ति से नीचे का न हो, इत्तिला प्राप्त होने पर और ऐसी जांच करने के पश्चात् जो वह आवश्यक समझे, यह विश्वास करने का कारण है कि किसी ऐसे व्यक्ति या ऐसे व्यक्तियों के समूह द्वारा, जो अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के नहीं हैं, और जो उसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किसी स्थान पर निवास करते हैं या बार-बार आते-जाते हैं, इस अधिनियम के अधीन कोई अपराध करने की संभावना है या उन्होंने अपराध करने की धमकी दी है और उसकी यह राय है कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है तो वह उस क्षेत्र को अत्याचारग्रस्त क्षेत्र घोषित कर सकेगा तथा शांति और सदाचार बनाए रखने तथा लोक व्यवस्था और प्रशांति बनाए रखने के लिए आवश्यक कार्रवाई कर सकेगा और निवारक कार्रवाई कर सकेगा ।

(2) संहिता के अध्याय 8, अध्याय 10 और अध्याय 11 के उपबंध, जहां तक हो सके, उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए लागू होंगे ।

(3) राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, एक या अधिक स्कीमें वह रीति विनिर्दिष्ट करते हुए बना सकेगी जिससे उपधारा (1) में निर्दिष्ट अधिकारी अत्याचारों के निवारण के लिए तथा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्यों में सुरक्षा की भावना पुनः लाने के लिए ऐसी स्कीम या स्कीमों में विनिर्दिष्ट समुचित कार्रवाई करेंगे ।

18. अधिनियम के अधीन अपराध करने वाले व्यक्तियों को संहिता की धारा 438 का लागू न होना – संहिता की धारा 438 की कोई बात इस अधिनियम के अधीन कोई अपराध करने के अभियोग पर किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी के किसी मामले के संबंध में लागू नहीं होगी ।

19. इस अधिनियम के अधीन अपराध के लिए दोषी व्यक्तियों को संहिता की धारा 360 या अपराधी परिवीक्षा अधिनियम के उपबंध का लागू न होना – संहिता की धारा 360 के उपबंध और अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 (1958 का 20) के उपबंध अठारह वर्ष से अधिक आयु के ऐसे व्यक्ति के संबंध में लागू नहीं होंगे जो इस अधिनियम के अधीन कोई अपराध करने का दोषी पाया जाता है ।

20. अधिनियम का अन्य विधियों पर अध्यारोही होना - इस अधिनियम में जैसा अन्यथा उपबंधित है उसके सिवाय, इस अधिनियम के उपबंध, तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या किसी रूढ़ि या प्रथा या किसी अन्य विधि के आधार पर प्रभाव रखने वाले किसी लिखत में उससे असंगत किसी बात के होते हुए भी, प्रभावी होंगे ।

21. अधिनियम का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित करने का सरकार का कर्तव्य – (1) राज्य सरकार, ऐसे नियमों के अधीन रहते हुए, जो केन्द्रीय सरकार इस निमित्त बनाए, इस अधिनियम के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए ऐसे उपाय करेगी जो आवश्यक हों ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे उपायों के अंतर्गत निम्नलिखित हो सकेगा, –

(i) ऐसे व्यक्तियों को, जिन पर अत्याचार हुआ है, न्याय प्राप्त करने में समर्थ बनाने के लिए पर्याप्त सुविधाओं की, जिनके अंतर्गत विधिक सहायता भी है, व्यवस्था ;

(ii) इस अधिनियम के अधीन अपराध के अन्वेषण और विचारण के दौरान साक्षियों जिनके अंतर्गत अत्याचार से पीड़ित व्यक्ति भी हैं यात्रा और भरणपोषण के व्यय की व्यवस्था ;

(iii) अत्याचारों से पीड़ित व्यक्तियों के आर्थिक और सामाजिक पुनरुद्धार की व्यवस्था ;

(iv) इस अधिनियम के उपबन्धों के उल्लंघन के लिए अभियोजन प्रारंभ करने या उनका पर्यवेक्षण करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति ;

(v) ऐसे समुचित स्तरों पर, जो राज्य सरकार ऐसे उपायों की रचना या उनके क्रियान्वयन के लिए उस सरकार की सहायता करने के लिए ठीक समझे, समितियों की स्थापना करना ;

(vi) इस अधिनियम के उपबंधों के बेहतर क्रियान्वयन के लिए उपायों का सुझाव देने की दृष्टि से इस अधिनियम के उपबन्धों के कार्यकरण का समय-समय पर सर्वेक्षण करने की व्यवस्था ;

(vii) उन क्षेत्रों की पहचान करना जहां अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्यों पर अत्याचार होने की संभावना है और ऐसे उपाय करना जिससे कि ऐसे सदस्यों की सुरक्षा सुनिश्चित हो सके ।

(3) केन्द्रीय सरकार ऐसे उपाय करेगी जो उपधारा (1) के अधीन राज्य सरकारों द्वारा किए गए उपायों मे समन्वय करने के लिए आवश्यक हों ।

(4) केन्द्रीय सरकार, प्रत्येक वर्ष, संसद् के प्रत्येक सदन के पटल पर इस धारा के उपबंधों के अनुसरण में स्वयं उसके द्वारा और राज्य सरकारों द्वारा किए गए उपायों के संबंध में एक रिपोर्ट रखेगी ।

22. सद्भावपूर्वक की गई कार्रवाई के लिए संरक्षण – इस अधिनियम के अधीन सद्भावपूर्वक की गई या की जाने के लिए आशयित किसी बात के लिए कोई भी वाद, अभियोजन या अन्य विधिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध या राज्य सरकार या सरकार के किसी अधिकारी या प्राधिकारी या किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध नहीं होगी ।

23. नियम बनाने की शक्ति – (1) केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, इस अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए नियम बना सकेगी ।

(2) इस अधिनियम के अधीन बनाया गया प्रत्येक नियम, बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब यह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि

उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस नियम मे कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा । किन्तु नियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी कौंसिल

निर्णय-सूची

पृष्ठ संख्या

रैयत, गाराबंधो और अन्य गांव **बनाम** जमींदार,
परलकीमेडी और अन्य 1

रैयत, गाराबंधो और अन्य गांव ..... अपीलार्थी

बनाम

जमींदार, परलकीमेडी और अन्य ..... प्रत्यर्थी

प्रि. कौं. अपील सं. 60 सन् 1939

(मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय[1] से)

निर्णीत : 10.5.1943

उपस्थित : लार्ड चांसलर, (विसकाउंट साइमन), लार्ड मैकमिलन, लार्ड पोर्टर, सर जार्ज रैंकिन और सर माधवन नायर

उत्प्रेषण रिट – यह इंग्लैंड की एक प्राचीन रिट है जो वरिष्ठ न्यायालय जारी करता है और जिसके द्वारा किसी अवर न्यायालय की कार्यवाही का अभिलेख इस दृष्टि से मंगाया जाता है कि उसमें वरिष्ठ न्यायालय कार्यवाही करे – यह रिट विशुद्धतः कार्यपालक कार्य के संबंध में जारी नहीं होती – किंतु "न्यायालय" शब्द का व्यापक अर्थ लेकर उससे अभिप्रेत है न्यायिक कार्य करने वाला अभिकरण यह सिद्धांततः वरिष्ठ न्यायालय के विशेषतः किंग्स बेंच न्यायालय के अधीक्षण के प्राधिकार पर आधारित है – यह रिट ब्रिटिश होमीनियनों में भी जारी होती है ।

उत्प्रेषण रिट मद्रास उच्च न्यायालय की उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता – मद्रास उच्च न्यायालय प्रेसिडेंसी नगर के अंदर यह रिट जारी कर सकता है – किंतु प्रेसिडेंसी नगर के बाहर के लिए रिट केवल ब्रिटिश प्रजा के लिए जारी की जा सकती है, कंपनी के न्यायालय के लिए नहीं ।

मद्रास चार्टर सन् 1800 – खंड 8, 21, 22, 33 और 34 – खंड 8 द्वारा सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को व्यक्तिशः जो शक्ति प्रदान की गई है वह उनके उस न्यायालय के सदस्य होने के नाते है । खंड 8 सुप्रीम कोर्ट को किंग्स बेंच वाली पूरी अधिकारिता प्रदान नहीं करता – इस खंड

---

[1] ए. आई. आर. 1938 मद्रास 381.

के अधीन अधिकारिता का प्रयोग उन्हीं मामलों में हो सकता है जो खंड 21, 22, 33 व 34 के अंतर्गत आ जाते हैं, अन्य मामलों में नहीं – अतः प्रेसिडेंसी नगर के बाहर स्थित कंपनी के न्यायालयों के लिए सुप्रीम कोर्ट उत्प्रेषण रिट जारी नहीं कर सकता ।

मद्रास संपदा भूमि अधिनियम, 1908 (मद्रास एस्टेट्स लेण्ड ऐक्ट) – धारा 168 और 30(1)(ख) – धारा 168 के अधीन उचित और साम्यापूर्ण लगान नियत करने में राजस्व अधिकारी को धारा 30(1)(ख) के उपबंधों को भी विचार में लेना चाहिए, किंतु वह उनसे आबद्ध नहीं है ।

निर्णय

लार्ड चांसलर विसकाउंट साइमन :- मद्रास उच्च न्यायालय की इजाजत से की गई यह अपील उस न्यायालय के 5.11.1937 के एक आदेश के विरुद्ध है । उन्होंने अपीलार्थियों का यह आवेदन खारिज कर दिया कि मद्रास स्थित राजस्व बोर्ड के लिए एक उत्प्रेषण (सरशियोराई) रिट जारी की जाए जो कि संग्रही बोर्ड (क्लेटिव बोर्ड) द्वारा मद्रास संपदा भूमि अधिनियम, 1908 (मद्रास एस्टेट लैण्ड ऐक्ट) की धारा 172 के अधीन 9.10.1936 को किया गया आदेश प्रस्तुत करें, जिससे कि उसे अभिखंडित किया जाए । इग्लैंड में प्राचीन उत्प्रेषण रिट एक मूल रिट है, जो वरिष्ठ न्यायालय जारी कर सकता है जिसमें वह अपेक्षित होता है कि निचले न्यायालय के समक्ष विचाराधीन किसी वाद या मामले में कार्यवाही का अभिलेख वरिष्ठ न्यायालय को भेजा जाए जिससे कि वह उसमें कार्यवाही करे । रिट का नाम "सरशियोराई" इस कारण है क्योंकि इसके मूल लेटिन रूप में यह अपेक्षित था कि अन्वेषणीय कार्यवाहियों के विषय में राजा को "प्रमाणन" (स्टीफाइड) होना चाहिए । उसका उद्देश्य यह है कि वरिष्ठ न्यायालय के प्राधिकार का प्रयोग करके यह सुनिश्चित किया जाए कि निम्न अधिकरण की अधिकारिता का प्रयोग उचित तौर पर किया जाए । यह रिट विशुद्ध कार्यपालक कार्यों को सही करने के लिए जारी नहीं की जाती । किन्तु दूसरी ओर इसका प्रयोग संकीर्ण अर्थ में निचले "न्यायालयों" तक सीमित नहीं है । मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि निचले निकाय द्वारा किए गए कार्य न्यायिक कार्य हैं, न कि अनुसचिवीय कार्य, तो उत्प्रेषण रिट जारी की जा सकेगी । यह

उपचार सिद्धांततः प्रभुसत्ता (सावरिन) के वरिष्ठ न्यायालयों, के विशेषतः किंग्स बेंच न्यायालय के अधीक्षण के प्राधिकार से उत्पन्न होता है, जिसका प्रयोग वे अवर अधिकारिता वाले न्यायालयों पर करते हैं । यह सिद्धांत राजा के होमिनियनों के अन्य भागों में भी लागू किया गया है और कुछ सीमाओं के भीतर यह ब्रिटिश भारत में भी लागू होता है ।

2. अपीलार्थी उत्तरी सरकारों के अंतर्गत गंजम जिले की परलकीमेडी संपदा में सम्मिलित तीन गांवों की रैयत हैं । प्रत्यर्थी है (1) परलकीमेडी का जमींदार तथा (2) मद्रास स्थित राजस्व बोर्ड । अक्तूबर, 1925 में जमींदार ने मद्रास संपदा भूमि अधिनियम के अध्याय 11 के अधीन आवेदन किया कि इन गांवों का लगान निश्चित किया जाए ; तथा मार्च, 1926 में दिए गए अनुपूरक आवेदन द्वारा (जो मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा ठीक उसी समय **वल्लूरी नरसिम्हा राव** बनाम **पेड्डा मिडीपल्ली की रैयत**[1] में पूर्व में दिए गए निर्णय से प्रेरित था) उसने अनुरोध किया कि अधिनियम की धारा 168(1) के अधीन "उचित और साम्यापूर्ण लगान" निश्चित किया जाए । नवंबर, 1927 में मद्रास सरकार ने जिले के विशेष राजस्व अधिकारी को निदेश दिया कि उक्त गांवों की भूमि की बाबत उचित और साम्यापूर्ण लगान निश्चित किया जाए । विरोधी पक्षकारों द्वारा ज्ञापन दिए जाने और मौके पर विस्तृत अन्वेषण करने के बाद विशेष राजस्व अधिकारी ने 1935 में एक आदेश करके लगान को पहले से दो-गुणा कर दिया । रैयत द्वारा राजस्व बोर्ड को अपील करने पर उस बोर्ड के एकल सदस्य ने धारा 30 के खंड (1) के परंतुक (ख) द्वारा आबद्ध रहते हुए (लागू होने वाले मामलों के संबंध में) इस विनिश्चय को उलट दिया और लगान में केवल 124 प्रतिशत की वृद्धि अनुज्ञात की । परंतुक इस प्रकार है :–

> "परंतु ..... लगान में इस खंड के अधीन कोई वृद्धि उस भूमि की बाबत पहले से संदेय लगान में दो आने प्रति रुपए से अधिक नहीं होगी ।"

3. जमींदार ने एकल सदस्य के इस विनिश्चय के विरुद्ध पुनरीक्षण आदेश के रूप में अपील संग्रही राजस्व बोर्ड को की । संग्रही बोड ने

---

[1] इं. ला रि. 49 मद्रास 499 = आ. इं. रि. 1926 मद्रास 480.

9.10.1936 को एक के मुकाबले दो के बहुतम से विनिश्चय किया कि धारा 30(1) का परंतुक (ख) इस मामले में लागू नहीं होता । दूसरी ओर वे 100 प्रतिशत जैसी अत्यधिक लगान-वृद्धि का समर्थन करने को भी तैयार नहीं थे और उन्होंने रुपए में 6 आने अर्थात् 37.50 प्रतिशत की वृद्धि को उचित मानते हुए वह वृद्धि की तथा यह वृद्धि 5 वर्षों की अवधि तक विस्तारित की जानी थी । तारीख 9.2.1937 को वर्तमान अपीलार्थियों ने मद्रास उच्च न्यायालय में आवेदन किया कि संग्रही राजस्व बोर्ड के आदेश को अभिखंडित करने के लिए उत्प्रेषण रिट जारी करें । उसमें उन्होंने यह शिकायत कि लगान में वृद्धि रुपए में दो आने, अर्थात् 12-1/2 प्रतिशत, से अधिक कर दी गई है जब कि अधिनियम की धारा 30(1)(ख) के अधीन अनुमत अधिकतम वृद्धि 12-2/1 प्रतिशत है । तारीख 5.11.1937 को मद्रास उच्च न्यायालय (मुख्य न्यायमूर्ति लीच तथा न्यायमूर्ति बर्न) ने यह निर्णय किया कि यदि कानून की यह धारा लागू की जाती है जिसके अनुसार 12-1/2 प्रतिशत से अधिक वृद्धि विधितः नहीं की जा सकती तो अपीलार्थी राजस्व बोर्ड के लिए उत्प्रेषण रिट के हकदार होंगे, कि उस अवैधता को ठीक किया जाए, किंतु मामले की परिस्थितियों में राजस्व बोर्ड को 37 1/2 प्रतिशत की वृद्धि करने की शक्ति प्राप्त थी । अतः रिट के लिए अर्जी खारिज कर दी गई ।

4. इन प्रश्नों में पहला यह है कि यदि राजस्व बोर्ड ने अपनी अधिकारिता के बाहर जाकर कार्य किया तो उसका उचित उपचार क्या उत्प्रेषण रिट है ? यह सामान्य महत्व का और बहुत कठिन प्रश्न है । हमने यह उचित समझा कि इस पर विचार करके उसका विनिश्चय करें, भले ही मद्रास उच्च न्यायालय का यह कहना सही हो कि वृद्धि की 12-1/2 प्रतिशत की सीमा प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होता कि परमाधिकार रिट के उपयोग का व्यापक प्रश्न अनिर्णीत छोड़ दिया जाए । इस व्यापक प्रश्न को देखते हुए हमने भारत सचिव से अनुरोध किया कि वे अपील में रुचि ले और बहस में सहायता प्रदान करें और हम सपरिषद् गवर्नर जनरल की ओर से इंडिया आफिस द्वारा अनुदिष्ट काउंसेल के आभारी हैं कि उन्होंने इस कुछ क्लिष्ट अन्वेषण में सहायता प्रदान की ।

5. मद्रास उच्च न्यायालय ने यह माना कि उन्हें प्रस्तुत मामले में

उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता है । यह उन्होंने उस न्यायालय के हाल के निर्णयों की एक श्रृंखला के आधार पर अपनाया । एक समय में विनिश्चय यह किया गया था कि राजस्व बोर्ड मद्रास संपदा भूमि अधिनियम के अध्याय 11 के अधीन अपने कृत्यों का संपादन सिविल न्यायालय के रूप में करता है और इस कारण वह उस पुनरीक्षण अधिकारिता के अधीन है जो कि उच्च न्यायालय को भारत शासन अधिनियम की धारा 107 व संहिता की धारा 115 द्वारा सौंपी गई है । किंतु इस मत तो एक पूर्ण न्यायपीठ द्वारा **राजा, मंदासा** बनाम **जगन्नाथवुलू**[1] में उलट दिया गया । हमें इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि इस प्रश्न पर पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय सही है किंतु हमारे ऐसा कहने से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि यह हमारा विनिश्चय है कि राजस्व बोर्ड अपने कर्तव्यसंपादन में ऐसा न्यायालय है जो कि अधिनियम की धारा 107 के अर्थों में ऐसा उच्च न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता के अध्यधीन है या संहिता की धारा 115 के अर्थों में उच्च न्यायालय का अधीनस्थ न्यायालय है । वह निर्णय श्रृंखला, जिसमें अंत में उत्प्रेषण रिट की कार्यवाही की अधिकारिता की पुष्टि की गई **नटराज अय्यर के मामले**[2] से प्रारंभ हुई मानी जा सकती है । उसमें अरियालूर के राजस्व खंड अधिकारी ने निदेश दिया था कि आवेदक का 1886 के आय कर अधिनियम के अधीन कार्यवाही में दिए गए शपथपत्र द्वारा झूठा साक्ष्य देने के लिए अभियोजन किया जाए । जिन दो न्यायाधीशों ने उस मामले में निर्णय दिया उन्होंने इस बात से सहमति व्यक्त की कि गुणागुण के आधार पर कोई उत्प्रेषण रिट जारी नहीं होनी चाहिए ; किंतु अधिकारिता के प्रश्न पर उनमें मतभेद था । न्यायाधीश सुन्दर अय्यर ने निर्णय दिया कि इस संबंध में कोई अधिकारिता नहीं है । उनका यह समाधान हो गया था कि "सुप्रीम कोर्ट को यह अधिकारिता प्राप्त नहीं है कि वह मद्रास की सीमा के बाहर किसी व्यक्ति के लिए कोई रिट जारी करने के सिवाय उस दशा के जब कि वह ब्रिटिश प्रजा हो (पृष्ठ 80) और उन्होंने यह कहा कि "प्रकटतया" ऐसा कोई मामला नहीं है जिसमें

---

[1] 63 मद्रास ला जर्नल 450 = आ. इं. रि. 1932 मद्रास 612.

[2] इं. ला रि. (1913) 36 मद्रास 72.

कि किसी भी उच्च न्यायालय ने अपनी आरंभिक अधिकारिता की सीमा के बाहर किसी अधिकारी के लिए उत्प्रेषण रिट जारी की हो" (पृष्ठ 81) । किंतु न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर ने निर्णय दिया कि "मुफस्सिल में व्यक्तियों द्वारा पारित न्यायिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए उत्प्रेषण रिट जारी करने की शक्ति उच्च न्यायालय को है" (पृष्ठ 95) । **वेंकटरत्नम** बनाम **भारत सचिव**[1] में न्यायमूर्ति वेंकट सुब्बाराव ने न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर के मत से सहमति प्रकट की किंतु उन्होंने तथा माधवन अय्यर दोनों ने निर्णय दिया कि रिट सपरिषद् गवर्नर को संबोधित नहीं की जा सकती क्योंकि अभिव्यक्त कानूनी छूट उस प्राधिकारी का संरक्षण करती है । इससे यह प्रतीत होता है कि उस मामले में प्रत्यर्थी की ओर से जो तर्क दिया गया उसमें पूर्व निर्णय में न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर द्वारा प्रतिपादित विधि को इतना प्रश्नगत नहीं किया गया था जितना कि गवर्नर और उसके मंत्रियों को प्राप्त छूट पर जोर दिया गया था और इसी कारण से न्यायमूर्ति माधवन नायर ने केवल छूट के प्रश्न पर चर्चा की । किंतु **मुनि स्वामी चेट्टी** बनाम **राजस्व बोर्ड**[2] में पूर्वोक्त निर्णय में यह विनिश्चय किया गया बताया गया कि, "अभिव्यक्त कानूनी प्रतिषेध के अभाव में उच्च न्यायालय को उत्प्रेषण रिट के विषय में वही अधिकारिता प्राप्त है जो कि इंग्लैड में किंग्स बेंच न्यायालय को प्राप्त है (पृष्ठ 149) । उस मामले में तिरुपति के पंचायत न्यायालय की सदस्यता से आवेदक को हटाने की बाबत रिट चाही गई थी, किंतु गुणागुण के आधार पर वह देने से इनकार कर दिया गया । जमींदारनी, **मंदासा** बनाम **मंदासा जमींदारी की रैयत**[3] का संबंध प्रस्तुत मामले की भांति मद्रास संपदा भूमि अधिनियम के अध्याय 11 के अधीन गंजम जिले में लगान नियत करने से या और राजस्व बोर्ड को एक उत्प्रेषण रिट अधिनियम की धारा 171 के अधीन बोर्ड की कार्रवाई की बाबत जारी किए जाने का आदेश दिया गया जिससे कि कुछ भूमि व्यवस्थापन की कार्यवाहियों से निकाल दी जाए । उस मामले में निर्णय

---

[1] इं. ला रि. 53 मद्रास 979 = आ. इं. रि. 1930 मद्रास 896.

[2] इं. ला रि. 55 मद्रास 137 = आ. इं. रि. 1932 मद्रास 33.

[3] इं. ला रि. 56 मद्रास 579 = आ. इं. रि. 1934 मद्रास 231.

का तर्काधार इस आशय का है कि उत्प्रेषण रिट केवल सिविल न्यायालय की कार्यवाही को अभिखंडित करने के लिए ही उपलब्ध नहीं है अपितु कार्यपालिका प्राधिकारियों की कार्यवाही को अभिखंडित करने के लिए भी उस दशा में उपलब्ध है जब कि उन्हें प्रजा के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों के अवधारण का कर्तव्य सौंपा गया हो । इस आपत्ति को कि राजस्व बोर्ड "न्यायालय" नहीं है अनिश्चायक मानते हुए माननीय न्यायाधीशों ने सही तौर पर अमान्य ठहराया । उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि उचित मामले में रिट जारी करने की शक्ति है । किंतु उन्होंने अपने समक्ष के मामले की बाबत मद्रास उच्च न्यायालय का अपने चार्टर के अधीन सांविधानिक या ऐतिहासिक स्थिति की स्वतंत्र परीक्षा नहीं की । इससे यह प्रकट होता प्रतीत होता है कि उन्होंने **नटराज अय्यर वाले मामले में**[1] न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर के तर्कों को न्यायमूर्ति सुन्दर अय्यर के तर्कों पर अधिमान देकर बाद के निर्णयों द्वारा सुप्रतिष्ठित माना । जहां तक हम पता लगा सके हैं, जो रिट उन्होंने जारी करने का निदेश दिया वह ऐसी पहली उत्प्रेषण रिट थी जो भारत में किसी न्यायालय द्वारा प्रेसिडेंसी नगर तथा ब्रिटिश प्रजा या उनके सेवकों पर अपनी अधिकारिता से स्वतंत्र रूप से जारी की गई थी । यदि इतिहास या विधि-पत्रिकाओं में कोई पूर्व निर्णय है तो उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया गया । न्यायाधीश सुन्दर अय्यर के **नटराज अय्यर वाले मामले**[1] पर की जो उक्ति हमने उद्धृत की वह गलत साबित नहीं की गई ।

6. यद्यपि प्रस्तुत अपील का एकमात्र प्रयोजन यह है कि मद्रास उच्च न्यायालय से राजस्व बोर्ड के लिए यह निदेश मिल जाए कि जंगम में की कुछ भूमि के संबंध में देय लगान निश्चित करने की कार्यवाहियों की बाबत उत्प्रेषण रिट जारी की जानी चाहिए तथापि, अधिकारिता के प्रश्न पर दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से विचार आवश्यक है । यह आवश्यकता इन परिस्थितियों से उत्पन्न होती है कि राजस्व बोर्ड, जिसकी मद्रास में पहली बार स्थापना 1786 में हुई, प्रांतीय सरकार के

[1] इं. ला रि. (1913) 36 मद्रास 72.

अधिकांश अंगों की भांति मद्रास नगर में स्थित है । अतः अधिकारिता का दावा (क) उच्च न्यायालय द्वारा प्रेसिडेंसी नगर पर प्रयुक्त स्थानीय सिविल अधिकारिता से स्वतंत्र रूप से, अथवा (ख) केवल राजस्व बोर्ड के नगर में स्थित होने के आधार पर किया जा सकता है । हमें यह भी नहीं लगता कि उपर्युक्त निर्णयों में अधिकारिता राजस्व बोर्ड की स्थिति के आनुषंगिक मानी गई है और हम इस प्रश्न पर चर्चा पहले उस स्थानीय सिविल अधिकारिता से स्वतंत्र रूप से करें जिसका प्रयोग उच्च न्यायालय प्रेसिडेंसी नगर पर करता है । प्रश्न प्रथमतः 26.12.1800 के चार्टर के सही अर्थान्वयन पर निर्भर करता है, जिसके द्वारा मद्रास में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई । यदि उस चार्टर द्वारा शक्ति प्रदान की गई थी तो अब वह शक्ति भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, 1861 (24 व 25 विक्टोरिया, अध्याय 104 धारा 9) के आधार पर और उन कानूनों के आधार पर जिनमें उस उपबंध को पुनः प्रयोग किया गया है (भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, 1865 28 व 29 विक्टोरिया अध्याय 15 और भारत शासन अधिनियम, धारा 106) । अब उच्च न्यायालय में निहित है । मद्रास सुप्रीम कोर्ट को वे शक्तियां उत्तराधिकार में मिली जो पहले मेयर न्यायालय और रिकार्डर न्यायालय के पास थीं । किंतु प्रेसिडेंसी नगर के बाहर भारतीयों को और कंपनी के मुफस्सिल में स्थित न्यायालयों को उत्प्रेषण रिट जारी करने का अधिकार उन शक्तियों में नहीं था । स्थानीय क्षेत्र के बाहर उनकी अधिकारिता ब्रिटिश प्रजाओं तक सीमित थी । यह उस सीमित अधिकारिता के अलग था जो कंपनी या ब्रिटिश प्रजाओं की सेवा में व्यक्तियों पर प्राप्त थी (37 जार्ज तृतीय अध्याय 142, धारा 10) । यदि अब दावाकृत शक्ति 1800 से चार्टर में मिले तो हमारे विचार से वह या तो उसके खंड 8 में मिलनी चाहिए या उस निर्देश में मिलनी चाहिए जो कि 1800 का चार्टर तथा कानून (39 व 40 जार्ज तृतीय अध्याय 79, धारा 2) में कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट की शक्तियों के प्रति हैं – जिस निर्देश की पुनरावृति 4 जार्ज चतुर्थ अध्याय 71 (1824) की धारा 17 में की गई । 1800 के अधिनियम की धारा 2 ने हिज मैजेस्टी को चार्टर द्वारा प्राधिकृत किया कि मद्रास में एक सुप्रीम कोर्ट स्थापित करें जिसे :–

> "इस बात की पूर्ण शक्ति प्राप्त हो कि मद्रास नगर में और उन राज्यक्षेत्रों में जो मद्रास सरकार के अधीन इस समय हैं या आगे हों, ऐसी सिविल दांडिक नावधिकरण विषयक और चर्च विषयक अधिकारिता का प्रयोग भारतीयों और ब्रिटिश प्रजाओं दोनों के संबंध में करें ..... और उसमें ऐसी शक्ति और प्राधिकार निहित किया जाए जो उन्हीं परिसीमाओं, निर्बन्धनों और नियंत्रण के अधीन हों विलियम ..... या ..... बंगाल, बिहार आदि प्रांतों में है या उसमें निहित है ।"

7. अतः यह स्पष्टतः आवश्यक है कि कलकत्ता और मद्रास दोनों में इस विषय के इतिहास पर विचार किया जाए और, संक्षेप में ही सही, उन परिस्थितियों पर विचार किया जाए जिनमें कि चार्टर को मद्रास प्रांत में प्रभावी करने का आशय था । ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1765 में दीवानी का अनुदान उस व्यक्ति से प्राप्त कर लिया था जिसको वह मुगल सम्राट के दिल्ली के सिंहसन का साधिकार दावेदार मानती थी । इस अनुदान में अभिव्यक्ततः बंगाल, बिहार और उड़ीसा शामिल थे किंतु यह अंतिम नाम अब छोड़ा जा सकता है क्योंकि उस समय जिस राज्यक्षेत्र को उड़ीसा कहते थे वह बहुत समय से बंगाल का भाग रहा है और जिस प्रांत को अब उड़ीसा कहते हैं वह 1803 तक ब्रिटिश भारत का भाग नहीं बना था । कंपनी ने दीवानी अर्थात् राजस्व और सिविल न्याय का प्रशासन अपने स्वयं के सेवकों द्वारा करने का भार 1772 तक नहीं लिया । किंतु जब उस वर्ष वह दीवानी के रूप में सामने आई तो सिविल न्यायालयों का एक तंत्र स्थापित किया गया । ये न्यायालय इग्लैंड के राजा हिज मैजेस्टी के न्यायालय नहीं थे और न ही वे इंग्लैंड की विधि का प्रशासन करते थे । वे कंपनी के यूरोपीय सेवकों द्वारा चलाए जाते थे जो किसी विधि पद्धति में कुशल नहीं थे, किंतु उन्हें विधि अधिकारियों की - काजियों, मुफ्तियों, मौलवियों या पंडितों की - सहायता प्राप्त थी जो उन्हें मुस्लिम और हिन्दू विधि से अवगत कराते थे । 1790 के पूर्व दंड न्याय की परिवर्तनशील एवं अस्थायी व्यवस्थाएं 1793 के रेगुलेशन 9 की उद्देशिका में विस्तारपूर्वक दी गई हैं । वस्तुतः दांडिक अधिकारिता निजामत का अंग थी, न कि दीवानी का, और कंपनी, कम से कम 1775 के बाद, 1790 तक यह नहीं कहती थी कि वह इसका स्वयं

प्रशासन कर रही है और, कम से कम नाम में तथा कुछ हस्तक्षेप और पर्यवेक्षण के अधीन रहते हुए, उसे नायब नाजिम के हाथों में छोड़ रखा था, जिसका मुख्य न्यायालय (निजामत अदालत) मुर्शिदाबाद में था । किंतु 1790 से कंपनी ने दांडिक अधिकारिता स्वयं अपने हाथों में ले ली और मुस्लिम दांडिक विधि का देश की सार्वजनिक विधि के रूप में चालू रखा तथा उसे समय-समय पर किए गए उपांतरणों के साथ हिन्दुओं तथा मुसलमानों को लागू किया । सिविल न्यायालयों से अपीलें सदर दीवानी अदालत को जाती थीं और दंड न्यायालयों से अपीले सदर निजामत अदालत को जाती थी । इन न्यायालयों में 1801 तक गवर्नर जनरल और परिषद् सदस्य होते थे । कंपनी के सिविल या दंड न्यायालयों को ब्रिटिश प्रजाओं पर कोई अधिकारिता नहीं थी । 1813 और 1833 के अधिनियमों के पूर्व ये बंगाल और बिहार के जिलों में बहुत कम थे और प्रायः कंपनी की सेवा में थे । यह विचार भी नहीं किया जाता था कि कंपनी को कोई और विधिक प्राधिकार है कि ऐसा विनियम बनाए जो उन ब्रिटिश प्रजाओं को लागू हो जो उसके सेवक नहीं हैं । समान रूप से ब्रिटिश प्रजा और भारतीयों पर सामान्य अधिकारिता वाली विधायी सत्ता भारत में पहली बार 1833 के अधिनियम द्वारा स्थापित की गई । इस बीच एक युक्ति का आश्रय लिया गया कि किसी भी ब्रिटिश प्रजा को राजधानी से 10 मील के बाहर निवास की अनुज्ञा तब के सिवाय नहीं दी जाती थी जब कि वह एक बंधपत्र लिखे कि 500/- रुपए से अनधिक के सिविल वादों में वह जिला न्यायाधीश की अधिकारिता के अधीन होगा (बंगाल रेगुलेशन सं. 3 सन् 1793, धारा 9, सं. 28 सन् 1793, धारा 2, व मद्रास रेगुलेशन सं. 2 सन् 1802, धारा 6) ।

8. 1773 में रेगुलेटिंग ऐक्ट (13 जार्ज तृतीय, अध्याय 63) के द्वारा संसद् ने कंपनी के प्रशासन पर नियंत्रण के लिए पहली बार हस्तक्षेप किया । उसने बंगाल के अंतर्गत फोर्ट विलियम में एक सुप्रीम कोर्ट की चार्टर द्वारा स्थापना प्राधिकृत की, जिसे अभिलेख न्यायालय होना था तथा कलकत्ता नगर और उसके अधीनस्थ फैक्टरियों के लिए कोर्ट आफ आयर एंड टर्मिनर होना था । सुप्रीम कोर्ट को मेयर के न्यायालय का स्थान लेना था, जो 1726 से अंग्रेजी न्यायालय के रूप में विद्यमान था और जो शहर और बस्ती (सेटिलमेंट) पर अंग्रेजी विधि

लागू करता था । रेगुलेटिंग ऐक्ट की धारा 14 में यह भी उपबंध थ कि सुप्रीम कोर्ट स्थापित हो जाने पर उन ब्रिटिश प्रजाओं पर प्राधिकार होगा जो बंगाल और बिहार में कंपनी के संरक्षण में निवास करें और वह उन वादों और परिवादों की भी सुनवाई कर सकेगा जो कंपनी या ब्रिटिश प्रजा की सेवा के किसी व्यक्ति के विरुद्ध हों । उसने सपरिषद् गवर्नर जनरल को बस्ती और अधीनस्थ स्थानों की बाबत लिए विनियम बनाने के लिए प्राधिकृत किया किंतु वे तब तक प्रभावी नहीं होने थे तब तक कि सुप्रीम कोर्ट उन्हें रजिस्ट्रीकृत करना ठीक न समझे ; और चूंकि परिषद् अपने विनियम इस प्रकार की प्रतिबंध व्यवस्था प्रस्तुत करने के विरुद्ध थी, अतः व्यवहार में यह उपबंध निष्प्रभावी रहा । गवर्नर जनरल और परिषद् सदस्य तथा मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायाधीशों को बस्ती तथा अधीनस्थ फैक्टरियों के लिए "जस्टिस आफ दि पीस होना था और उन्हें उस रूप में कार्य करने की पूर्ण शक्ति और प्राधिकार होना था ।"

9. सुप्रीम कोर्ट को दी गई शक्तियों के विषय में 1774 के चार्टर ने कठिनाइयां उत्पन्न कीं, जो 1773 के कानून के कारण नहीं कही जा सकती । अपने चार्टर द्वारा प्राधिकृत होने का दावा करते हुए न्यायालय, जैसा कि सुविदित है, (अन्य बातों के साथ-साथ) कंपनी न्यायालय के अधिकारियों के विरुद्ध उनके पदीय कार्यों के बारे में कुछ कार्यवाहियां ग्रहण करने के लिए अग्रसर हुआ और "पटना" तथा "कासीजुरा" में उसी कार्यवाहियों का परिणाम यह हुआ कि कंपनी की सरकार के परिषद् ने सेना का उपयोग न्यायालय के आदेशों के कार्यान्वयन को रोकने के लिए किया और इंग्लैंड स्थित प्राधिकारियों को न्यायालय के कार्यों के विरुद्ध अर्जी दी कि यह बंगाल और बिहार के निवासियों पर अंग्रेजी विधि के प्राधिकार के विस्तारण का एक प्रयास है । परिणामस्वरूप 1781 का कानून (21 जार्ज तृतीय अध्याय 70) अस्तित्व में आया । उद्देशिका में (अन्य बातों के साथ-साथ) कहा गया कि यह समीचीन है कि प्रांतों की विधिपूर्ण सरकार का समर्थन किया जाए और निवासियों को अपनी प्राचीन विधियों, प्रथाओं, अधिकारों और विशेषाधिकारों के उपभोग में संरक्षण प्रदान किया जाए । अधिनियम ने सुप्रीम कोर्ट की अधिकारिता की व्याप्ति और शर्तों में आमूल परिवर्तन कर दिया और 1774 के चार्टर को प्ररूपी तौर पर उसका संशोधन किए बिना, अधिकांशतः अधिक्रंत कर

दिया । मद्रास के 1800 के मद्रास चार्टर की, जिससे अब हमारा सीधा संबंध है, शर्तो का आशय स्पष्ट है कि 1781 के संशोंधनों का समावेश किया जाए और इस प्रकार वही सामान्य परिणाम मद्रास में लाया जाए जो कलकत्ता में किया गया । मद्रास में मेयर का न्यायालय 1753 के चार्टर के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता रहा जब कि 1798 में उसका स्थान रिकार्डर न्यायालय ने ले लिया जो 1797 के कानून (37 जार्ज तृतीय, अध्याय 142) द्वारा प्राधिकृत बनाया गया था । रिकार्डर, सर थामस स्ट्रैंज 1800 में मद्रास के नए सुप्रीम कोर्ट के प्रथम मुख्य न्यायमूर्ति हुए ।

10. अतः 1781 के अधिनियम का प्रभाव 1800 के चार्टर के अर्थान्वयन के लिए सुसंगत है । उसने गवर्नर जनरल और परिषद् को उनके पदीय कर्तव्यों के संबंध में न्यायालय की अधिकारिता के बाहर कर दिया ; उसने न्यायालय को राजस्व मामलों में अधिकारिता से वंचित कर दिया ; उसमें यह उपबंध किया गया कि कोई भी व्यक्ति उसकी अधिकारिता के अंतर्गत इस कारण नहीं होगा कि वह भू-धारक या भूमि का कृषक है या भूमि का लगान देता है ; कोई भी व्यक्ति विरासत या संविदा के किसी विषय में न्यायालय की अधिकारिता के अंतर्गत इस कारण नहीं होगा कि वह कंपनी या किसी ब्रिटिश प्रजा द्वारा नियोजित है, किंतु वह केवल दोषपूर्ण कार्यों (wrongs) और अतिचार की बाबत अथवा अन्य सिविल मामलों में उसकी अधिकारिता के अधीन होने के लिखित करार के आधार पर उसकी अधिकारिता के अंतर्गत होगा । उसमें यह उपबंध किया गया कि इस प्रकार नियोजित भारतीयों के नामों का एक रजिस्टर रखा जाए । उसने सुप्रीम कोर्ट को अधिकारिता प्रदान की कि कलकत्ता के सभी निवासियों के विरुद्ध अनुयोगों और दावों का विचारण करे और यह उपबंध किया कि उनके मामलों को क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम विधि लागू की जाए अथवा उन मामलों में जिनमें पक्षकारों में एक हिन्दू या मुसलमान हो प्रतिवादी की विधि लागू की जाए । उसने कुटुंब के वृद्धजनों के अधिकार परिरक्षित किए । उसने देश के न्यायालयों में सिविल अपील न्यायालय के रूप में सदर दीवानी अदालत की पुष्टि की और उसे अभिलेख न्यायालय बना दिया तथा उसके निर्णयों जो सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील करने के सिवाय अंतिम और निश्चायक

कर दिया । उसने सदर न्यायालय को राजस्व के संग्रहण में अपराधों और उद्दीपनों के विषय में अनन्य अधिकारिता प्रदान की । देशीय न्यायालयों के न्यायिक अधिकारियों को, चाहे वे ब्रिटिश हों या भारतीय, अपने द्वारा किए गए आदेशों के संबंध में कार्यवाही से संरक्षित कर दिया और अन्य व्यक्तियों को उनके आदेश से किए गए कार्यों के संबंध में उसी प्रकार का संरक्षण प्रदान किया । उसने गवर्नर जनरल और परिषद् को शक्ति प्रदान की कि "प्रांतीय न्यायालय और परिषदों के संबंध में विनियम बनाएं ।" यह बहुत सीमित शक्ति थी और जिसने 1797 के अधिनियम (37 जार्ज तृतीय अध्याय 142, धारा 8) से मिलकर एक ऐसी व्यापक विधि-व्यवस्था को जन्म दिया जो कि बंगाल रेगुलेशन के नाम से जानी जाती है । 1800 के मद्रास चार्टर का निर्वचन करने के पूर्व कुछ अन्य बातों पर भी अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिए । कलकत्ता और मद्रास में 1726 और 1753 के मेयर न्यायालयों के चार्टरों के अधीन जस्टिस आफ दि पीस ने कार्य किया था । जब मुफस्सिल में ब्रिटिश प्रजा के विरुद्ध दांडिक कार्यवाही आवश्यक हो जाती तो जस्टिस आफ दि पीस को उस मामले में कार्रवाई करने या अभियुक्त को विचारणार्थ सुपुर्द करने का कार्य करना होता था । 1793 के अधिनियम (33 जार्ज तृतीय, अध्याय 52) की धारा 151 में यह कहने के बाद के परिषद् के सदस्य और न्यायाधीश की प्रांत में जस्टिस आफ दि पीस हैं, सपरिषद् गवर्नर जनरल को यह शक्ति प्रदान की :

> कि वह "उक्त के प्रसंविदाबद्ध सेवकों और अन्य ब्रिटिश निवासियों में वे और उतने ..... उक्त प्रांतों और प्रेसिडेंसियों तथा उनके अधीनस्थ स्थानों के भीतर और के विषय में जस्टिस आफ दि पीस के रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त करे ।"

11. इन जस्टिसों का ओयर एंड टर्मिनर के किसी न्यायालय में तब तक नहीं बैठना होता था जब तक कि उनसे वैसा करने को न कहा जाए । उनकी नियुक्तियां सुप्रीम कोर्ट की मुहर से जारी की जानी थीं । धारा 153 के अनुसार आयर एंड टर्मिनर न्यायालय के बाहर किसी जस्टिस आफ दि पीस द्वारा की गई सभी दोषसिद्धियां 6 मास के भीतर उत्प्रेषण रिट द्वारा उच्च न्यायालय में लाई जा सकती थीं । [इसी प्रकार का उपबंध 1807 में मद्रास और बंबई के संबध में किया गया (47 जार्ज

तृतीय सत्र 2, अध्याय 68, धारा 4)] । 1813 में 53 जार्ज तृतीय, अध्याय 155 की धारा 105 में यह कहा गया :–

> "कलकत्ता और मद्रास के नगरों तथा बंबई नगर और द्वीप को छोड़कर भारत में ब्रिटिश राज्यक्षेत्रों में निवास करने वाली हिज मैजेस्टी की ब्रिटिश प्रजाएं विधि द्वारा केवल हिज मैजेस्टी के क्रमशः कलकत्ता, मद्रास और बंबई स्थित न्यायालयों की अधिकारिता के अध्यधीन हैं और वे उक्त यूनाइटेड कंपनी द्वारा ऐसे उक्त राज्यक्षेत्रों में स्थापित इन न्यायालयों की अधिकारिता के बाहर हैं, जिनके प्रति उक्त राज्यक्षेत्र के, पूर्वोक्त नगरों को छोड़कर, अन्य सभी निवासी, चाहे वे भारतीय हों या अन्य, अधीन हैं ..... ।"

12. उसमें आगे यह उपबंध किया गया कि हमले, बलात् प्रवेश अथवा अन्य क्षति, जिसमें बल-प्रयोग हो, के मामलों में कोई भारतीय ब्रिटिश प्रजा के विरुद्ध जिला मजिस्ट्रेट को परिवाद कर सकता है, जो उसे दोषमुक्त कर सकता है या दोषसिद्ध कर सकता है और 500/- रुपए तक जुर्माना कर सकता है । इन सब दोषसिद्धियों के विषय में घोषित किया गया कि वे उत्प्रेषण रिट द्वारा कोर्ट आफ आयर एंड टर्मिनर में ले जाई जा सकती हैं और उनके विषय में जेल में भेजते (जेल डिलिवरी) की कार्रवाई उसी प्रकार की जा सकती है जैसे कि 1793 के अधिनियम के अधीन उपबंधित है जो उपबंध उस समय तक प्रवृत्त रहा जब कि 1843 के अधिनियम सं. 4 ने ऐसे मामलों को कंपनी के न्यायालयों में अपील की सामान्य पद्धति लागू कर दी । धारा 106 ने मुफस्सिल में की ब्रिटिश प्रजा के लिए यह उपबंध किया कि उन पर लघु ऋणों के लिए कंपनी के न्यायालय में वाद लाया जा सकता है । धारा 107 ने प्रेसिडेंसी नगर से 10 मील से अधिक दूर रहने वाली ब्रिटिश प्रजा को कंपनी न्यायालयों की, वे न्यायालय चाहे आरंभिक हों या अपील सिविल अधिकारिता के अधीन कर दिया यदि वाद-हेतुक उनकी अधिकारिता में उत्पन्न हुआ हो ; किंतु ब्रिटिश प्रजा कंपनी के अपील न्यायालय को अपील करने की बजाय सुप्रीम कोर्ट को अपील कर सकती थी । 1836 के अधिनियम 11 द्वारा अंतिम वर्णित विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया गया । 1813 के इस

अधिनियम की अन्य धाराओं का कुछ ऐतिहासिक महत्व है : धारा 99 और 100 द्वारा कंपनी को यह शक्ति प्रदान की गई कि वह विनियम द्वारा प्रेसिडेंसी नगरों पर कुछ कर या शुल्क लगाए और यह अपेक्षा की कि सुप्रीम कोर्ट ऐसे विनियमों को मान्यता दे । धारा 114 द्वारा हिज मैजेस्टी के कलकत्ता, मद्रास या बंबई स्थित किसी न्यायालय की दांडिक अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किसी व्यक्ति का या ऐसे व्यक्ति का जो स्वयं इन न्यायालयों की अधिकारिता के अधीन हो, प्रतिभूतियां चुराना, कारावास से दंडनीय अपराध (फेलोनी) बना दिया ।

13. मद्रास के कानून और चार्टर में कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट की अधिकारिता के प्रतिनिर्देश को देखते हुए प्रस्तुत प्रश्न पर यह लगभग निश्चायक है कि यह दिखाया जा सके कि 1781 के बाद कलकत्ता न्यायालय बंगाल और बिहार स्थित देश के सभी न्यायालयों पर अधिकारिता का वस्तुतः प्रयोग और उसका दावा उन्हें उत्प्रेषण और परमादेश (मेण्डेमस) की परमाधिकार अंग्रेजी रिटें जारी करके कर रहा था । 1781 के पूर्व की पद्धति का अन्वेषण कठिन एवं लाभ-रहित होगा । किंतु **आर. वी. राम गोबिन्द मित्तर के मामले** (1781) मोर्टन 210 को देखते हुए (जिसके प्रति हम सम्यक् अनुक्रम में आगे निर्देश करेंगे) हमारा समाधान नहीं हुआ है कि इन दोनों रिटों में से कभी किसी रिट का उपयोग किया गया है यद्यपि बंदी प्रत्यक्षीकरण (हेबियर कार्पस) का उपयोग निश्चय ही किया गया । जो भी हो, हमें यह उचित तौर पर स्पष्ट लगता है कि 1781 तथा शताब्दी के समाप्त होने के बीच ऐसी किसी अधिकारिता का प्रयोग वस्तुतः नहीं किया जा रहा था । हमें किसी ऐसे मामले का ज्ञान नहीं है जिसमें सुप्रीम कोर्ट ने देश के किसी न्यायालय के लिए कोई उत्प्रेषण या परमादेश रिट जारी की हो । बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट का उपयोग साक्षियों को समन करने के ढंग (टेस्टिफिकेंडम) के रूप में हुआ जो सुप्रीम कोर्ट की कलकत्ता पर और ब्रिटिश प्रजाओं पर स्वीकृत अधिकारिता के क्रम में था ; तुलना कीजिए **डेवराल का मामला**[1] । इस प्रश्न का उत्तर पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि विचारण के दौरान रिट स्थानीय अधिकारिता के बाहर केवल ब्रिटिश

[1] (1839) मोर्टन 184.

प्रजाओं के लिए हो अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए भी ब्रिटिश प्रजाओं की स्वतंत्रता के संरक्षणार्थ अथवा अधिक सामान्य रूप में कलकत्ता के अंतर्गत न्यायालय की स्थानीय अधिकारिता की सहायता के लिए जारी की जाती थी । किंतु यह रिट यदि जारी भी की गई तो मामूली तौर पर न्यायालय के लिए जारी नहीं की जाती थी और हमें 1781 के बाद 1829 के बंबई वाले मामले **(बंबई के सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्तिगण का मामला**[1]**)** तक, जिसका यहां आगे उल्लेख होगा, कोई ऐसा मामला ज्ञात नहीं हुआ जिसमें इस रिट का उपयोग किसी सुप्रीम कोर्ट द्वारा कंपनी के किसी न्यायालय की अधिकारिता में हस्तक्षेप के लिए किया गया हो । यह अधिसंभाव्य प्रतीत होता है कि बंगाल में 1781 के बाद इस अधिकारिता का प्रयोग होने पर परिषद् (काउंसिल) की ओर से निश्चित प्रतिक्रिया होती और ऐसी अधिकारिता के प्रयोग के लिए उन वादकारियों ने, जो देश के न्यायालयों में असफल हुए, बराबर प्रयत्न किया होता ।

14. देश के न्यायालयों का सोपान-क्रम बंगाल रेगुलेशन की कृति था और 1772 की मूल व्यवस्था में अनेक परिवर्तनों के बाद वह पद्धति पुनरीक्षित होकर 1793 के कार्नवालिस कोड में स्थिर हो गई । इसमें 48 अधिनियमितियां थीं जिनमें से कुछ काफी लंबी थीं । वे अधिकांशतः सर जार्ज वारलो द्वारा प्रारूपित की गई थीं । वे इन प्रांतों के आंतरिक शासन के लिए विनियम और राजतंत्र की पद्धति के रूप में 20 वर्ष पर्यन्त प्रचलित रहीं । (देखिए हेरिंगटन का "अनेलेसिस", खंड 1, पृष्ठ 16) । कार्नवालिस कोड में वर्णित "अदालत पद्धति" के समान अदालत पद्धति मद्रास में 1802 में उस वर्ष तथा 1802 और 1806 के बीच मद्रास सरकार द्वारा बनाए गए अनेक विनियमों द्वारा लागू कर दी गई । जैसा कि विलियम मारले के सुप्रसिद्ध डाइजेस्ट (1850, खंड 1, प्रस्तावना, पृष्ठ 30) में बताया गया, 1802 के पहले मद्रास में कंपनी के कोई न्यायालय नहीं थे । प्रांत के अनेक भागों में सिविल और दांडिक न्याय पूर्व की भांति देशीय शासकों के अधीन रहा । सत्ता जिले के कलेक्टर के हाथों में केंद्रित थी, जिसने पुराने शासन-तंत्र के आमिलदार का स्थान लिया और उसी की व्यापक शक्तियों का प्रयोग किया । 1799

---

[1] (1829) 1 नैप 1.

तक लार्ड वेलेजली ने मद्रास सरकार को आदेश दे दिया था कि बंगाल वाली पद्धति अविलंब लागू करें (वेलेजली के डिस्पेचेस, 1836, खंड 2, पृष्ठ 121) । सुप्रीम कोर्ट का सृजन उसी सामान्य नीति का अंश था । बंगाल या मद्रास रेगुलेशनों में कोई ऐसे उपबंध नहीं मिले जो यह संकेत करें कि कंपनी के न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश या उत्प्रेषण जैसी रिटों द्वारा नियंत्रण और भूल-सुधार करने के दायी थे । मद्रास विनियम 6 सन् 1802 (धारा 19) में यह उपबंध है कि दांडिक मामलों में यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा के विरुद्ध कार्यवाही केवल सुप्रीम कोर्ट की अधिकारिता में होगी और जिला मजिस्ट्रेट की प्रक्रिया इस बात से विनियमित होगी कि वह पार्लियामेंट के 1793 के अधिनियम के अधीन विचारणार्थ सुपुर्द करने की शक्ति वाला जस्टिस आफ दि पीस भी है या नहीं । बंगाल रेगुलेशन 9 सन् 1793 व कार्नवालिस कोड का अनुसरण करते हुए मद्रास रेगुलेशन 7 व 8 सन् 1802 ने कुछ महत्वपूर्ण संशोधनों के साथ मुस्लिम दांडिक विधि लागू की और एक ऐसी प्रक्रिया प्रारंभ की गई जिसमें काजी या मुफ्ती का फतवा एक महत्वपूर्ण लक्षण था । इसी प्रकार, 1803 के मद्रास रेगुलेशन 15 में बंगाल रेगुलेशन 53 उस बात को दुहराया गया जो कि "ताजिए" अर्थात् वैवेकिक दंड के सिद्धांत और पद्धति के तथा हिंसात्मक लूट के अपराध के विषय में थी । मुख्य सिविल और दंड न्यायालय, जो सदर अदालत और सदर फौजदारी अदालत कहलाते थे, मद्रास नगर में समवेत होते थे और जो प्रथम गठन किया गया उनमें गवर्नर और परिषद् दोनों थे । इनके नीचे चार प्रांतीय अपील न्यायालयों की स्थापना की गई, जिनके सदस्य सर्किट न्यायालयों के न्यायाधीशों के रूप में महत्वपूर्ण दांडिक मामलों का विचारण करते थे । उनके नीचे जिला जज तथा उनके "रजिस्टर" या सहायक न्यायाधीश थे और फिर विभिन्न शक्तियों वाले और विभिन्न पदनामों वाले भारतीय न्यायिक अधिकारी थे, जो छोटे मामलों के लिए थे । बंगाल की भांति मद्रास में भी न तो सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश को न देशीय न्यायालयों में यूरोपीय न्यायिक अधिकारियों को उस समय हिन्दू या मुस्लिम विधि की जानकारी थी न पंडितों और मौलवियों से स्वतंत्र जानकारी का कोई साधन उपलब्ध था सिवाय हेलहेड के "जेन्टू कोर्ड" के, जो 1776 में प्रकाशित हुआ था । हेमिलटन ने हेदाया के अनुवाद के जो 1791 में सर

विलियम जोंस के मनु के अनुवाद के जो 1794 में प्रकाशित हुआ तथा मुस्लिम विरासत विधि पर अलसीराजिया की पुस्तक जो 1792 में प्रकाशित हुई कोलबुक की "टू ट्रीटीज" 1810 तक प्रकाशित नहीं हुई थी । जगन्नाथ (कोलबुक का डाइजेस्ट) कलकत्ता में 1797 में और लंदन में 1801 में प्रकाशित हुई । हिन्दू विधि पर अंग्रेजी में पहली पुस्तक थी सर फ्रांसिस मैकनाटन की जो 1824 में प्रकाशित हुई और सर थामस स्ट्रेंज की पुस्तक जो 1825 में प्रकाशित हुई । सर डब्ल्यू. एच. मैकनाटन के मुस्लिम और हिन्दू विधियों पर ग्रंथ 1825 और 1829 में आए । 1802 में कोलबुक और हेरिगटन कलकत्ता स्थित सदर न्यायालय के न्यायाधीश थे तथा गवर्नर और परिषद् के सदस्य मद्रास में न्यायाधीश थे । अपने नए न्यायालय के कृत्यों के संबंध में सर थामस स्ट्रेंज के मत का उल्लेख इस निर्णय में आगे किया जाएगा । यह विचार करना कठिन है कि इंग्लैंड से आए बैरिस्टर न्यायाधीश से यह आशा थी कि वे प्रेसिडेंसी नगर में समवेत होने वाले सदर न्यायालयों के होते हुए कंपनी के न्यायालयों को, जो रेगुलेशनों और देशीय विधियों का प्रशासन करते थे, अधिकारिता के विषय में भूल-सुधार के लिए प्रांत की सीमाओं के भीतर अंग्रेजी परमाधिकार रिटे जारी करेंगे । 1831 तक कलकत्ता स्थित सुप्रीम कोर्ट की हिन्दू विधि के एक बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न पर संदेह होने पर, उसने सदर न्यायालय के न्यायाधीशों से परामर्श करके उनकी राय के अनुसार कार्य किया, देखिए - **जगमोहन राय** बनाम **श्रीमती नीमो दासी**[1] । बंगाल के लिए 1781 और 1997 के अधिनियमों ने तथा मद्रास के लिए 1800 के अधिनियम (30-40 जार्ज तृतीय, अध्याय 79, धारा 11) ने विनियम प्रांतीय न्यायालयों पर आबद्धकर कर दिए, किंतु सुप्रीम कोट पर आबद्धकर नहीं किए । यह कहीं भी प्रतीत नहीं होता कि सुप्रीम कोर्ट ने यह माना कि कंपनी के विनियमों और मुस्लिम दंड विधि का पूरे प्रांत में प्रवर्तन का पर्यवेक्षण और नियंत्रण उनका कर्तव्य है । किंतु ये ऐतिहासिक बातें यहां अधिकारिता के किसी प्रश्न पर निश्चायक रूप में प्रस्तुत नहीं की जा रही हैं, बल्कि ऐसी बातों के रूप में प्रस्तुत की जा रही हैं जिनके प्रकाश में 1800 के मद्रास चार्टर पर विचार किया जाना है ।

---

[1] (1831) मार्टन 90.

चार्टर एक बड़ा विलेख है, किंतु यहां उसका केवल खंड 8 उद्धृत किया जाता है :

> "8. और यह भी हमारी इच्छा और आंकाक्षा है कि उक्त मुख्य न्यायमूर्ति और उक्त अवर न्यायमूर्ति न्यायाधीश अलग-अलग और क्रमशः फोर्ट सेंट जार्ज की बस्ती में और उसके पूरे विस्तार पर्यन्त तथा मद्रास नगर में और उसकी सीमाओं में और उसके अधीनस्थ फैक्टरियों तथा उन सब राज्यक्षेत्रों में जो इस समय या आगे पूर्वोक्त मद्रास सरकार के अधीन या उस पर निर्भर हों, न्यायमूर्तियों और कंजरवेटर आफ दि पीस तथा कारोनरों के रूप में नियुक्त किए जाते हैं और उन्हें परिस्थितियों में यथासंभव ऐसी अधिकारिता और प्राधिकार प्राप्त हो जो हमारे किंग्स बेंच न्यायालय के न्यायमूर्तियों को प्राप्त है और जिसका विधिपूर्वक प्रयोग वे ग्रेट ब्रिटेन के उस भाग में, जिसे इंग्लैंड कहा जाता है, करते हैं ।"

15. अपीलार्थियों का तर्क है कि इस खंड ने सुप्रीम कोर्ट को अधिकारिता प्रदान की कि पूरे प्रांत में कहीं भी स्थित कंपनी के किसी न्यायालय को उत्प्रेषण रिट जारी करें । इस प्रयोजनार्थ जिन शब्दों का आश्रय लिया जा सकता है वे पैरा के अंतिम भाग में हैं । हमारे विचार से यह पैरा केवल नगर और फैक्टरियों तक सीमित नहीं रखा जा सकता और उसका अर्थ "उन सब राज्यक्षेत्रों में जो पूर्वोक्त" मद्रास सरकार के अधीन हैं के प्रतिनिर्देश से किया जाना चाहिए । दूसरी ओर ये शब्द "परिस्थितियों में यथासंभव" शब्दों से विशेषतः विशेषित हैं । यह खंड कलकत्ता के 1774 के चार्टर के खंड 4 के पहले आधे भाग की सारतः पुनरावृत्ति है, किंतु अभी उद्धृति विशेषक शब्द नए हैं । कलकत्ता वाले खंड का दूसरा आधा भाग मद्रास में खंड 9 के रूप में है । हम मद्रास चार्टर में यथाविद्यमान खंड का अर्थान्वयन करेंगे । यह केवल इस कारण नहीं कि अव्यवस्थित कलकत्ता चार्टर का संदर्भ कठिनाई बढ़ा देता है, अपितु इस कारण भी क्योंकि 1781 के अधिनियम द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धांत 1800 के चार्टर में समाविष्ट करने का आशय था । यह पूर्ववर्ती खंडों में से है और उन उपबंधों में है जो न्यायाधीशों की अर्हता, उनके बैंक और उनकी अग्रता, न्यायालय की सील, रिटों के प्ररूप,

न्यायाधीशों के वेतन और सेवा की शर्तों के विषय में हैं । इसकी भाषा ब्लेकस्टोन की "कमेंटरीज" (संस्करण-1 1765-9, संस्करण 5-1773) के एक पैरा का स्मरण दिलाती है जिसमें कि 1768 में प्रथम प्रकाशित तृतीय पुस्तक (अध्याय 4, पृष्ठ 41) में विद्वान् लेखक ने किंग्स बेंच को "ओला रेजिया का अवशेष" बताया है और किंग्स बेंच के न्यायमूर्तियों का निर्देश इस रूप में करता है कि वे "अपने पद के कारण शांति के उच्चतम संरक्षक और देश के कोरोनर हैं" । यह पैरा और इसका संदर्भ कोक के "इंस्टीट्यूट्स" (4 इंस्टीट्यूट 73) के भाग 4 से लिए गए हैं जहां कि इस न्यायालय के न्यायमूर्तियों के संबंध में सर्वोत्तम भाषा का प्रयोग किया गया है :–

> "यह सही कहा गया है कि जस्टिसेस ही बैंको रेजिस का प्राधिकार उच्चतम है क्योंकि वहां विधि के आशय के अनुसार राजा स्वयं पीठासीन होते हैं । वे **जस्टिसेज इन आयर** से अधिक हैं ..... इस न्यायालय के न्यायाधीश देश के प्रभुसत्तासंपन्न कारोनर हैं । अतः जहां शेरिफ और कारोनर बिल के द्वारा अपीलें ग्रहण कर सकते हैं वहां इस न्यायालय के न्यायमूर्तिगण तो और भी ऐसा कर सकते हैं ।"

16. शेरिफ के लिए, देश के दूरस्थ भागों में आदेशिका की तामील के लिए अधिवक्ताओं और अटार्नियों के प्रवेश के लिए तथा लिपिकों की नियुक्ति के लिए व्यवस्था करने के बाद चार्टर के खंड 21 से 23 तक में अधिकारिता के विषय की कुछ बातें हैं । चार्टर के खंड 21 द्वारा न्यायालय को उन सब व्यक्तियों पर अधिकारिता दी गई है जो कि पूर्ववर्ती चार्टर में ब्रिटिश प्रजा के रूप में वर्णित हैं और जो मद्रास सरकार पर आश्रित किसी फैक्टरी में निवास करते हैं । उनको शक्ति प्रदान की गई है कि उनके विरुद्ध उन सब अनुयोगों और वादों की सुनवाई करें जो उस राज्यक्षेत्र में उत्पन्न हों जो तब या तत्पश्चात् उस सरकार के आश्रित हो या जो राज्यक्षेत्र किसी ऐसे भारतीय राजा का हो जिसकी कि उस सरकार से मित्रता हो और किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध भी जो कंपनी द्वारा या किसी ब्रिटिश प्रजा द्वारा नियोजित है । इसके अतिरिक्त न्यायालय को वह सब अधिकारिता प्रदान की गई है जिसका

प्रयोग मेयर और रिपोर्टर करते रहे थे । खंड 22 में 1781 के अधिनियम की धारा 17 और 19 की पुनरावृत्ति की गई है तथा इसके द्वारा यह शक्ति प्रदान की गई है कि नगर के सभी निवासियों के विरुद्ध सिविल वाद ग्रहण करें तथा इसमें यह उपबंध है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को विरासत और संविदा के विषय में अपनी विधि का लाभ मिलना चाहिए । देशीय न्यायालय द्वारा लागू की जाने वाली विधियों और प्रथाओं के प्रति-निर्देश में उसमें कुछ संशोधन हैं । खंड 23 में वे छूटें दोहराई गई हैं जिन्हें 1781 के अधिनियम द्वारा मान्यता दी गई । न्यायाधीशों की भांति गवर्नर तथा परिषद् के सदस्य भी गिरफ्तार नहीं किए जा सकते, न उन पर पदीय कार्यों की बाबत वाद लाया जा सकेगा ; न्यायालय को राजस्व के विषय में अधिकारिता नहीं होगी ; कोई भी व्यक्ति उसकी अधिकारिता के अधीन इस कारण नहीं होगा कि वह भू-धारक, लगानदायी कृषक आदि हैं ; कंपनी या ब्रिटिश प्रजा द्वारा नियोजित होने से कोई व्यक्ति इस अधिकारिता के अधीन नहीं होगा सिवाय केवल दोषपूर्ण कार्य और अतिचार के मामलों के । न्यायिक अधिकारियों और उनके आदेशों के अधीन कार्य करने वाले व्यक्तियों पर वाद उनके निर्णयों और डिक्रियों के कारण नहीं होगा । खंड 33 उन व्यक्तियों पर साम्या की अधिकारिता प्रदान करता है जो उसकी साधरण सिविल अधिकारिता के लिए वर्णित हैं, न्यायालय को दांडिक अधिकारिता खंड 34 और 35 द्वारा प्रदान की गई है । खंड 34 द्वारा उसे नगर तथा उसकी अधीनस्थ फैक्टरियों के लिए कोर्ट आफ आयर एंड टर्मिनर तथा जेल परिदान बनाया ; खंड 35 द्वारा उसे अधिकारिता प्रदान की गई कि प्रांत में अथवा किसी देशीय राज्य में, जिसकी मद्रास सरकार से मित्रता है, कहीं भी किए गए अपराध के लिए ब्रिटिश प्रजा का विचारण करे । खंड 37 द्वारा प्रदत्त चर्च विषयक अधिकारिता से कुछ कठिन प्रश्न उठे जिनका यहां उल्लेख अनावश्यक है, किंतु वह उन व्यक्तियों के विषय में लागू होती है जो कि पहले "ब्रिटिश प्रजा" के रूप में वर्णित थे और उसका विस्तार संपूर्ण प्रांत पर था ।

17. खंड 47 उसी विषय में है जिसमें कि कलकत्ता के 1774 के चार्टर का खंड 21 है और वह कोर्ट आफ रिक्वैस्ट, कोर्ट आफ क्वार्टर

शैसंस तथा जस्टिसेज और नगर के अन्य मजिस्ट्रेटों के संबंध में है । ये सुप्रीम कोर्ट के आदेशों और नियंत्रण के अध्यधीन किए गए हैं जैसा कि इंग्लैंड में अवर न्यायालय और मजिस्ट्रेट किंग्स बेंच के आदेशों और नियंत्रण के अधीन हैं ; इसी उद्देश्य से सुप्रीम कोर्ट को उसके द्वारा शक्ति प्रदान की गई कि परमादेश, उत्प्रेषण, प्रोसीडेंडो व एरर की रिटें जारी करें । ऊपर उद्धृत खंड 8 के निबंधनों पर वापस आते हुए यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह खंड दृश्यतः न्यायाधीशों की व्यक्तिगत स्थिति का निर्देश नहीं करता, जैसा कि लगभग प्रारंभ में आने वाले "अलग-अलग और क्रमशः" शब्दों से प्रकट होता है । खंड की इस बात में बहुत पहले कलकत्ता में एक निर्णय आया कि न्यायालय वैयक्तिक न्यायाधीश से भिन्न होकर परमाधिकार रिटें जारी नहीं कर सकता, सिवाय उस दशा के जब ऐसा करने का प्राधिकार उसे चार्टर ने विशेष तौर पर दिया हो, जैसा कि कोर्ट आफ रिक्वैस्ट के संबंध में किया गया (कलकत्ता चार्टर का खंड 21, मद्रास चार्टर का खंड 47) - देखिए - **आर.** बनाम **वारेन हैस्टिंग्स**[1] । सर एलीजा इम्पे ने यह राय उन प्रारुपकारों के आशय की व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर दी, जो अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति थे, यद्यपि वे बंगाल की नई घटनाओं की जानकारी के लिए प्रसिद्ध नहीं थे । ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि एकल न्यायाधीश तो बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी कर सकता है ; किंतु न्यायालय कोई परमाधिकार रिट तब तक जारी नहीं कर सकता जब तक कि वह चार्टर द्वारा विनिर्दिष्ट तौर पर प्राधिकृत नहीं है ; किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि बंदी प्रत्यक्षीकरण (और संभवतः एकजीट रैग्नों) से भिन्न परमाधिकार रिटें उनकी दृष्टि में जारी की जा सकती थीं । वस्तुतः प्रतीत यह होता है कि वे जारी नहीं की जा सकती थीं ।

"किंग्स बेंच न्यायालय की सामान्य शक्तियां इस न्यायालय को नहीं दी गई हैं, किंतु किंग्स बेंच न्यायालय के जस्टिसों की कामन ला के अधीन शक्तियां इस न्यायालय के न्यायाधीशों को अलग-अलग और क्रमशः दी गई हैं, और क्योंकि (ब्लैकस्टोन के अनुसार) किंग्स बेंच के

---

[1] (1775) मार्टन 206 व उपर्युक्त (1781) मार्टन 210.

न्यायाधीश बंदी प्रत्यक्षीकरण रिटें पृथकतः जारी करते थे, अतः हम एकमत हैं कि हमें पृथकतः अधिकार है कि वे रिटें जारी करें, किंतु न्यायालय के रूप में संयुक्त रूप में नहीं । (न्यायमूर्ति चेम्बर्स के अनुसार) आर. पी. राम गोविन्द मित्तर वाला मामला, 1781 मोर्टन 210 में, दिसंबर, 1781, किंतु जुलाई, 1872 में कलकत्ता में नए अधिनियमों की प्राप्ति के पूर्व (तुलना कीजिए मोर्टन पृष्ठ 125) । तुलना कीजिए स्टीफन रचित **ननकुमर एंड इम्पे** – (1885) खंड 2, पृष्ठ 139 ।"

18. इस बिंदु पर अपनाए गए दृष्टिकोण पर इस प्रश्न का उत्तर कुछ सीमा तक निर्भर करता है कि क्या खंड 21, 22, 33 और 34 का खंड 8 से कोई संबंध है और यदि है तो क्या है । इस प्रकार से **नटराज अय्यर**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर ने यह निर्णय दिया कि खंड 8 द्वारा दी गई शक्तियां न्यायाधीशों को उनकी केवल व्यक्तिगत हैसियत में नहीं दी गई थीं बल्कि सुप्रीम कोर्ट के अंग के रूप में दी गई थीं और यह कि खंड 21, 22, 33, और 34 उन शक्तियों को सीमित नहीं करते जो खंड 8 द्वारा दी गई हैं – **नटराज अय्यर वाला मामला** (उपर्युक्त) । पहली बात से हम सहमत हैं । इस खंड की यह महत्वपूर्ण बात है कि इसमें व्यैक्तिक न्यायाधीश का उल्लेख है, किंतु हमारे विचार से यह उस न्यायालय की प्रकृति और अधिकारिता की व्याख्या के अंग के रूप में है जिसका कि वह न्यायाधीश सदस्य है । यह मत 1774 के कलकत्ता चार्टर के प्रारुप पर जिन व्यक्तियों से परामर्श किया गया उनके कल्पित आशय पर इतने संदिग्ध रूप में आधारित है कि वह 1800 के चार्टर के निर्वचन के विषयांतर्गत असफल हो जाता है । 1781 के अधिनियम के यथापूर्व विद्यमान पूर्ववर्ती दस्तावेज के अर्थान्वयन का दावा हम नहीं करते । यह कार्य इतना अधिक कठिन है कि लगभग असंभव माना गया है । हमारा विचार है कि यदि उसका आशय यह माना जाए कि कुछ रिटें एकल न्यायाधीश तो जारी कर सकता है किंतु न्यायालय के रूप में मिलकर बैठने वाले तीन न्यायाधीशों को वे रिटें जारी करने की शक्ति नहीं थी तो यह मद्रास के चार्टर के यथा-विद्यमान खंड 8 का निर्वचन बहुत संकीर्ण और कड़ाई से

[1] इं. ला रि. (1913) 36 मद्रास 72.

होगा । यह अर्थ चार्टर के शेष भाग के संदर्भ में खंड 8 की भूमिका की उपेक्षा करता है या उसका गलत अर्थ लगाता है ।

19. इस खंड द्वारा दी गई पहली बात यह है कि न्यायाधीशों को जस्टिस आफ दि पीस बना दिया । वह उन्हें ऐसा जस्टिस संपूर्ण प्रांत के लिए बनाता है - मद्रास नगर के भीतर और बाहर समान रूप से । वह यह नहीं कहता कि वे नगर के अंदर के लिए ही जस्टिस होंगे किंतु उसके बाहर ..... अवर जस्टिस होंगे । फिर भी यह स्पष्ट है कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश उसके द्वारा जिले के मजिस्ट्रेट नहीं बनाए गए, जो कंपनी की सेवा, कंपनी के मुफस्सिल के साधारण दंड न्यायालयों के प्रशासन में, करने के लिए आशयित थे, और जो सारे प्रांत में भारतीयों के विषय में कार्यवाही करते थे और उन पर विनियमों द्वारा यथा उपांतरित मुस्लिम दंड विधि का प्रशासन करते थे । मद्रास की स्थानीय सीमाओं के बाहर जस्टिस आफ दि पीस होना एक ऐसा पद धारण करना था जिसका निर्देश केवल अंग्रेजी अधिकारिता के प्रति था और जो अपनी प्रकृति के अनुसार ब्रिटिश प्रजाओं तक सीमित था । "फेलोजी" शब्द की भांति "जस्टिस आफ दि पीस" में एक अंग्रेजी भाव है । नगर के भीतर अंग्रेजी विधि स्थानीय विधि थी और जस्टिस आफ दि पीस के रूप में न्यायाधीश की अधिकारिता का विस्तार सभी व्यक्तियों पर था । कलकत्ता के प्रथम न्यायाधीशों का बहुत कुछ समय जस्टिस आफ दि पीस के रूप में अपने कृत्यों के संपादन में लगता था (देखिए – लार्ड टीनमाउथ कृत लाइफ आफ सर विलियम जोंस - (1804 पृष्ठ 243) । 1793 और 1813 के अधिनियमों के उपबंधों के प्रतिनिर्देश पहले ही किया जा चुका है जिससे प्रकट होता है कि जस्टिस आफ दि पीस मुफस्सिल में क्या करते थे और उन्हें क्या करना था और हमारे विचार से मोरले के डाइजेस्ट में (खंड 1, भूमिका, पृष्ठ 115) की गई इस उक्ति से असहमत होना असंभव है :–

> "यह यहां उल्लेखनीय है कि मद्रास और बंबई दोनों स्थानों के सुप्रीम कोर्टों की अधिकारिता सामान्यतः ब्रिटिश प्रजाओं तक सीमित है और इससे यह प्रकट होगा कि न्यायाधीशों की शक्ति प्रांत में शांति के संरक्षक (केजर्ब्टर आफ दि पीस) के रूप में कार्य करने तक सीमित थी ।"

20. खंड 8 में प्रयुक्त बाद के शब्दों का अर्थ उसी दिशा में किया जा सकता है । न्यायाधीशों को किंग्स बेंच के न्यायाधीश होना था क्योंकि वे उस सारे क्षेत्र के लिए, जिसके लिए कार्य करने का अवसर उन्हें कभी भी आए, जस्टिस आफ दि पीस होना था । यह वह प्रास्थिति और प्राधिकार था जो उन्हें नगर के भीतर और बाहर दोनों स्थानों के लिए दिया गया । खंड 8 का अंतिम भाग परमाधिकार रिटों का कोई निर्देश नहीं करता और उसमें किंग्स बेंच के न्यायाधीशों की संपूर्ण अधिकारिता और प्राधिकार का मौटे तोर पर और संक्षिप्त निर्देश है । उसका अर्थ ऐसी शक्ति तक सीमित नहीं किया जा सकता जो किंग्स बेंच के लिए विशिष्टि थी और कामन ला के अन्य वरिष्ठ न्यायालयों को प्राप्त नहीं थी । क्या इन शब्दों का वस्तुतः यह आशय है कि सारे प्रांत के भारतीय निवासियों को और उनके बीच विवादित सभी मामलों को उसी अधिकारिता के अधीन कर दे जैसी कि किंग्स बेंच अंग्रेजी काउंटी के निवासी के संबंध में प्रयुक्त करेगी । क्या गंजम में रहने वाले भारतीय को ये शब्द उसी प्रकार इस अधिकारिता के अधीन कर देते हैं जैसे कि प्रेसिडेंसी नगर के भारतीय निवासी को, क्योंकि वे कहते हैं कि न्यायाधीशों को नगर के भीतर और बाहर वह अधिकारिता और प्राधिकार प्राप्त होंगे जो कि किंग्स बेंच के जस्टिसों को इंग्लैंड में प्राप्त हैं । हमारे विचार से इन प्रश्नों का केवल एक ही उत्तर हो सकता है "अधिकारिता" (ज्यूरिस्डिक्शन) शब्द को अनेक अर्थों वाला न मानते हुए उसका उपयोग व्यापक अर्थ में भी हो सकता है और संकीर्ण अर्थ में भी, और इस पैरा में सामान्य शब्द "प्राधिकार" (अथारिटी) उसके साथ प्रयुक्त हो कर उसका भाव स्पष्ट करता है । खंड 8 में उन व्यक्तियों के विषय में कुछ नहीं कहा गया है जिन पर प्राधिकार का प्रयोग किया जाना है । खंड 21 तथा 22, 33 और 34 में बहुत कुछ कहा गया है । यदि खंड 8 द्वारा यह आशयित था इंग्लैंड की भांति प्रांत के सभी निवासियों पर अधिकारिता प्रदान की जाए तो वह अधिकारिता बाद के खंडों के विशद उपबंधों द्वारा क्यों परिभाषित सीमित और रक्षित है ? यदि खंड 8 के अधीन सभी भारतीय उसकी संपूर्ण अधिकारिता में आते हैं तो यह कहने का क्या अर्थ है कि कंपनी द्वारा नियोजित भारतीय उसकी अधिकारिता में केवल दोषपूर्ण कार्यों और अतिचारों के लिए आएंगे ? यदि सभी

भारतीय उसके अधीन होने थे तो यह क्यों कहा गया कि भू-धारक या इजारदार होने से भारतीय उसकी अधिकारिता के अधीन नहीं आएंगे । इतनी विशदता के साथ खंड 22 में यह क्यों उपबंध किया गया कि हिन्दुओं को हिन्दू विधि का लाभ मिलेगा, फिर भी खंड 8 में स्वीय विधि की रक्षा के लिए एक भी शब्द नहीं है । ये बातें हमारे विचार से अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर हो जाती हैं कि खंड 8 ऐसा प्राधिकार सामान्य शब्दों में देता और परिभाषित करता है जिसका प्रयोग उन व्यक्तियों पर किया जाना है तो बाद के खंड द्वारा उसके अधीन किए गए हैं । अधिकारिता की प्रकृति और क्वालिटी स्वभावतः प्रत्येक न्यायाधीश की आस्थिति और प्राधिकार के दृष्टिकोण से वर्णित है । यह अर्थ लगाना संभव नहीं है कि खंड 8 प्रांत के सभी व्यक्तियों पर अलग अधिकारिता प्रदान करता है और वह खंड 21, 22, 33 और 34 से स्वतंत्र रूप से । इस प्रश्न पर हम न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर के उपर्युक्त **नटराज अय्यर**[1] वाले मामले में व्यक्त मत से सहमत नहीं हो सकते, जैसा कि विद्वान् न्यायाधीश ने अपने निर्णय के पृष्ठ 94 पर स्वयं कहा :–

> "कंपनी के सेवक ब्रिटिश प्रजा नहीं माने जाते थे, जिनकी सीधा निष्ठा क्राउन के प्रति हो । ब्रिटिश विधि कंपनी के मुफस्सिल क्षेत्र में लागू नहीं होती थी ।"

21. खंड 8 के अर्थान्वयन में इन परिस्थितियों को ध्यान में रखना है । इससे संभाव्यतः कुछ आश्चर्य हो सकता है कि जिन अनुभवों के कारण 1781 का अधिनियम बना, वे बंगाल चार्टर के खंड 4 के शब्दों को 1800 में दोहराया गया है किंतु यह उत्तर दिया जा सकता है कि 1781 में पार्लियामेंट के अवधारण में त्रुटि का अवसर नहीं है और जोड़े गए शब्द "परिस्थितियों में यथासंभव" ने यह असंभव कर दिया कि किंग्स बेंच के निर्देश से प्रेसिडेंसी नगर के बाहर सामान्य अधिकारिता मिल गई जो कि चार्टर के अन्य उपबंधों से स्वतंत्र और असंगत है । खंड 47 से अलग कोई परमाधिकार रिट कभी जारी हो सकती है, इसमें न्यायालय के सामान्य प्राधिकार और सामर्थ्य की मान्यता अंतर्ग्रस्त है

---

[1] इं. ला रि. (1913) 36 मद्रास 72.

और किंग्स बेंच के निर्देश से यही घोषणा खंड 8 में की गई है । किंतु हमारी यह राय नहीं है कि सुप्रीम कोर्ट को कंपनी के देशीय न्यायालयों के भूल-सुधार और नियंत्रण की कोई अधिकारिता थी जो न्यायालय गंजम के भारतीय निवासियों के बीच उस जिले की भूमि की बाबत देय लगान की बाबत विवाद का विनिश्चय कर रहे थे । जैसी कि 1829 के बंबई वाले मामले में बहस की गई जो मामला यहां आगे वर्णित है :–

> "यद्यपि चार्टर में ऐसे शब्द है जो न्यायालय को किंग्स बेंच का प्राधिकार देते हैं किंतु यहां प्राधिकार की प्रकृति बताई गई है न कि अधिकारिता का विस्तार"- नैप (knapp)[1] ।

22. हम यहां 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में सुप्रीम कोर्ट की स्थिति का संक्षिप्त वर्णन नहीं कर रहे, किंतु हम उस पत्र से एक लेखांश उद्धृत करते हैं जो बंगाल के न्यायाधीशों ने इंग्लैंड में प्राधिकारियों को सितंबर, 1830 में लिखा था [पार्लियामेण्टरी पेपर्स 1831, खंड 6, रिपोर्टस आफ कमेटीज, (3) पृष्ठ 129] :–

> "यह प्रत्यक्ष है कि यथाविद्यमान अधिकारिता सारतः बड़ी विचित्र प्रकार की है और अनेक कठिनाइयां उससे अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई हैं । यह एक विशिष्ट वर्ग के विषय में अनन्य वैयक्तिक अधिकारिता है जो विरल रूप में देश के बड़े भाग में घनी आबादी में फैला हुआ है, जो स्वयं को अधिकांशतः अधिकारिता के बाहर समझता है और विधि की पद्धति बहुत ही भिन्न में रहता है । फिर भी इन क्षेत्रों के प्रत्येक भाग में न्यायालय की आदेशिका का पालन कराया जाना चाहिए और भूमि भी यदा कदा अभिगृहीत करके उसका विभाजन या विक्रय किया जाना चाहिए, यद्यपि राजस्व विषयक किसी मामले में अधिकारिता के प्रयोग का पूर्ण निषेध है । यह राजस्व संपूर्ण प्रेसिडेंसी के प्रत्येक भू-खंड में वस्तुतः एक भाग है और बहुत बड़ा भाग है ।"

23. चार्टर का जो अर्थ उन्होंने लगाया है वह हमारे विचार से सुप्रीम कोर्ट की शक्तियों के विस्तार के विषय में मुख्य निर्णयों के

---

[1] पृष्ठ 38-39.

अनुरूप है । उल्लेखनीय प्रथम निर्णय है **नागपाह चिट्टी** बनाम **राचुम्पा** (स्ट्रेंज - नोट्स आफ केसेज, खंड 1, पृष्ठ 152) जो मद्रास के सुप्रीम कोर्ट के समक्ष 1802 में आया । पिथरा नागपाह की विधवा और पुत्र प्रतिवादी थे, वे मद्रास इसलिए आए थे कि वादी द्वारा प्राप्त पियरा नागपाह की संपदा का प्रशासन-पत्र अपास्त कराएं । आपत्ति यह की गई कि मृतक की जो संपत्ति उनके पास आई है उसके संबंध में उनके विरुद्ध वाद ग्रहण करने की अधिकारिता न्यायालय को नहीं है । उस पर मुख्य न्यायमूर्ति सर थामस स्ट्रेंज ने कहा :–

> "यह सही तौर पर कहा गया है कि इंग्लैंड स्थित न्यायालयों की अधिकारिता के तत्समान मामलों के आधार पर इस न्यायालय में बहस करना असंभव है । अपने गठन के अनुसार वे न्यायालय अपने-अपने गठन और कार्यवाही के ढंगों और प्रयोजनों के अनुसार राज्यक्षेत्र में सार्वभौम न्याय के चरम निधान हैं । अतः जब भी उनके संज्ञान से कोई मामला निकालने का प्रयत्न किया जाता है तो स्पष्टतः और दुविधा रहित ढंग से यह अवश्य स्पष्ट हो जाएगा कि प्रश्नगत उद्देश्य के लिए पर्याप्त अधिकारिता अन्यत्र है । यदि यह ऐसे न कहा जाए जिससे कि न्यायालय को वैसा प्रतीत हो तो अधिकारिता विषयक अभिवाक् असफल हो जाएगा और अधिकारिता बाकी रहेगी । किंतु यहां स्थिति भिन्न है क्योंकि यहां की अधिकारिता प्रकृति में समकक्ष होने पर भी इस न्यायालय की अधिकारिता उन व्यक्तियों के विषय में सीमित है जो ब्रिटिश प्रजा नहीं हैं । मोटे तौर पर भारतीयों के विषय में मद्रास के निवासियों तक सीमित है (यह बुद्धिमत्तापूर्ण है या नहीं इस पर हमें विचार नहीं करना है) अतः अभिवाक् उन तथ्यों तक सीमित रहता है जिन पर कि न्यायालय से उचित तौर पर यह कहने की अपेक्षा है कि क्या प्रतिवादी भारतीय होने के नाते प्रस्तुत आवेदन पर हमारी अधिकारिता के अधीन होने के प्रयोजनार्थ मद्रास के निवासी माने जा सकते हैं ।" (स्ट्रेंज : नोट्स आफ केसेज, खंड 1 पृष्ठ 155) ।

24. तद्नुसार अधिकारिता विषयक अभिवाक् मंजूर किया गया । वाद 1800 के चार्टर के खंड 31 के अधीन न्यायालय के साम्या पक्ष के

अंतर्गत था । यह खंड उन व्यक्तियों पर अधिकारिता प्रदान करता था जो न्यायालय की साधारण सिविल अधिकारिता के अधीन थे । **राजा** बनाम **गोकुल नाथ मलिक**[1] में एक बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट एक भारतीय के लिए जारी की थी जिसका दावा था कि वह कलकत्ता का निवासी नहीं है और न किसी प्रकार से इस न्यायालय की अधिकारिता के अधीन है । मुख्य न्यायमूर्ति पुलर ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि यह सही माना जाना चाहिए कि आवेदक बंगाल में अंडूल का निवासी है, न कि कलकत्ता का, न्यायमूर्तिगण मेकनाटन व बूलर की सहमति से आगे कहा :–

> "जहां तक विधि के प्रश्न का संबंध है उन अधिनियमों में कुछ नहीं मिलता जिन्होंने न्यायालय को शक्ति प्रदान की कि ऐसे भारतीय पर जो विधितः कलकत्ता या फोर्ट विलियम फैक्टरी या उनकी स्थानीय सीमाओं का निवासी नहीं है अधिकारिता ग्रहण करे । ..... चार्टर ने उससे अधिक विस्तृत अधिकार नहीं दिए और न वह दे सकता था जो कि पार्लियामेण्ट का अधिनियम घोषित करता है कि इस न्यायालय के हैं । अतः हमें यह प्रतीत हुआ कि (गोकुल नाथ को अंडूल का निवासी मानते हुए) वह किसी सिविल वाद में इस न्यायालय की अधिकारिता के अधीन नहीं है । अतः यह माना जाना चाहिए कि वह किसी भी कार्यवाही में उसके प्राधिकार के अंतर्गत नहीं आता ।"

25. **जैम्स पैटल का मामला**[2] मुख्य न्यायमूर्ति रयान न्यायमूर्ति ग्रांट और मैलकिन के समक्ष एक आवेदन पर आया जो उत्प्रेषण की रिट के लिए था कि 24 परगना के एक मजिस्ट्रेट पेटन द्वारा किए गए आदेश, जिसमें आवेदक को दोषसिद्ध किया गया था, वहां से हटा लिया जाए । यह प्रतीत होता है कि मजिस्ट्रेट ने निर्णय किया था कि कुछ व्यक्ति उसकी अधिकारिता में स्थित तालाब से जल लेने के हकदार हैं और आवेदक ने उन्हें ऐसा करने से रोका था । इस आधार पर कि यह मजिस्ट्रेट द्वारा ब्रिटिश प्रजा की उसकी न्यायालय के अवमान की बाबत

---

[1] 1824 मार्टन 220.

[2] (1836) फुल्टनस् रिपोर्ट्स 313.

दोषसिद्धि है, न कि 1813 के अधिनियम (53 जार्ज तृतीय, अध्याय 155) के अंतर्गत आने वाला मामला (जिसे कानून का हमने पहले उल्लेख किया है) निर्णय यह किया गया (जिससे न्यायमूर्ति ग्रांट असहमत हुए) कि न्यायालय उत्प्रेषण रिट नहीं जारी कर सकता । मुख्य न्यायमूर्ति ने कहा :–

> "इस न्यायालय को अधिकारिता नहीं है कि जिलों के मजिस्ट्रेटों द्वारा ब्रिटिश प्रजाओं की दोषसिद्धि को हटाए, किंतु 53 जार्ज तृतीय, अध्याय 155 के अधीन हो सकता है कि मजिस्ट्रेट ने कार्य अवैध ढंग से और प्राधिकार के बिना किया हो - वह न्यायालय के दांडिक पक्ष में उत्तरदायी हो सकता है, किंतु हम प्रस्तुत कार्यवाही में कुछ नहीं कर सकते । ब्रिटिश प्रजा पर अधिकारिता न रखने वाले न्यायालय को, जो बात प्रस्तुत मामले में हो या न हो, अवमान के लिए अधिकारिता सभी व्यक्तियों पर होती है ।"

26. **केरी** बनाम **डफ्**[1] में मुख्य न्यायमूर्ति रमान तथा न्यायमूर्तिगण ग्रांट व सेटन के समक्ष प्रश्न प्रतिवादी द्वारा वादी के एक नील का कारखाना बेचने के करार से उत्पन्न हुआ । दृश्यतः वादी ने कब्जा ले लिया था, किंतु उसका मूल्य नहीं चुकाया था और हक के संबंध में आपत्तियां की थीं । पक्षकारों ने सक्षम मुफस्सिल न्यायालय में मुकदमा किया था और उसने क्रय धन के लिए क्रेता के विरुद्ध डिक्री दे दी थी । प्रतिवादी ने इस डिक्री के आधार पर स्वभावतः अभिवचन किया कि सुप्रीम कोर्ट में लाया गया वाद वर्जित है, और वह अभिवाक् माना गया । मुख्य न्यायमूर्ति रमान ने कहा :–

> "विदेशी निर्णय या निचले न्यायालय के निर्णय के मामले में यदि न्यायालय की अधिकारिता थी और पक्षकार उचित तौर पर उसके समक्ष थे तो यह न्यायालय गुणागुण के आधार पर हस्तक्षेप करने का अनिच्छुक होगा । किंतु यह मामला विदेशी निर्णय का या निचले न्यायालय के निर्णय का नहीं है । यह इस देश के ही एक

---

[1] (1841) फुल्टन्स रिपोर्ट्स 111.

अधिकरण का निर्णय है । अतः वह इस न्यायालय के उसी सम्यक् का पात्र है जिसका पात्र इस न्यायालय का निर्णय होगा, और जो वह मुफस्सिल के न्यायालय से नि:संदेह प्राप्त करेगा ।"

इसके विपरीत न्यायमूर्ति ग्रांट का विचार था कि : "इन न्यायालयों की डिक्रियां सुप्रीम कोर्ट में वैसे ही देखी जानी चाहिए जैसे कि इंग्लैंड में निचले न्यायालयों की डिक्रियां और विदेशी न्यायालयों की डिक्रियां जो वेस्ट मिंस्टर हाल के न्यायालय द्वारा निचले न्यायालयों की डिक्रियों के समान समझी जाती हैं ।"

न्यायमूर्ति सेटन मुख्य न्यायमूर्ति के इस विचार से सहमत हुए कि मुफस्सिल न्यायालयों की डिक्रियां देश के वरिष्ठ अधिकरणों की डिक्रियों तथा सुप्रीम कोर्ट की डिक्रियों की भांति सर्वोच्च (पेरामाउण्ट) प्राधिकार वाली समझी जानी चाहिए ।

27. फुल्टन के प्रकाशन के पृष्ठ 208 पर उल्लेख किया गया है कि न्यायमूर्ति सेटन के निर्णय में शब्द "पेरामाउण्ट" (सर्वोत्तम) के स्थान पर शब्द "ईक्वल" (समान) पढ़ा जाना चाहिए ।

28. उपर्युकत (1829)1 नैप 1 एक सुविदित मामला है और जो बंबई के 1823 के चार्टर के आधार पर सुप्रीम कोर्ट द्वारा 1828 में पारित कुछ आदेशों से उत्पन्न हुआ जिसमें बंदी प्रत्यक्षीकरण (habes carpus ad subjiciendum) को दो रिट जारी करने का निदेश दिया गया था । एक पूना के एक भारतीय निवासी के लिए थी कि वह एक भारतीय बालक को, जो उसका प्रतिपाल्य था, पेश करे ; दूसरी बंबई के नगर और द्वीप के बाहर के तान्नाह के प्रधान जेलर के लिए थी, जिसमें उसे निदेश दिया गया था कि अमुक भारतीय को पेश करे जो उसकी अभिरक्षा में बंदी था और जिला न्यायालय के आदेश के अधीन निरुद्ध था । बंबई सरकार ने प्रांतीय न्यायालयों के प्राधिकार को प्रश्नगत किए जाने देने से इंकार कर दिया और सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को एक पत्र लिखा कि ऐसे कार्य से "जिससे कि हमारे और आपके प्राधिकार में संघर्ष उत्पन्न हो" तब तक के लिए विरत रहें जब तक इंग्लैंड स्थित उच्चतर प्राधिकारियों के निदेश न प्राप्त कर लिए जाएं । सुप्रीम कोर्ट की ओर से सर जान पीटर ग्रांट ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को एक अर्जी

दी । अधिकारिता के अनेक प्रश्नों पर प्रिवी कौंसिल की एक समिति के समक्ष बहस की गई, जिस समिति में थे लार्ड चांसलर, लार्ड प्रेसिडेंट, लार्ड एलनबरों, लार्ड टेन्टरडेन, सर जान निकल, सर जान बेकेट, श्री सी. डब्ल्यू. वायन, लार्ड चीफ बैरन, लार्ड चीफ जस्टिस बेस्ट, सर क्रिस्टोफर राबिन्सन, श्री कूर्टने और श्री हाबहाऊस (पार्लियामेंटरी पेपर्स 1852/3, खंड 31, पृष्ठ 630) । समिति ने हिज मैजेस्टी को रिपोर्ट दी कि बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट इन दो मामलों में गलत तौर पर जारी की गई थी :–

> "सुप्रीम कोर्ट को बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट जारी करने की शक्ति या प्राधिकार नहीं है सिवाय तब जब कि वह ऐसे व्यक्ति को निर्दिष्ट हो जो कि उन स्थानीय सीमाओं के भीतर का निवासी हो जिस पर उस न्यायालय को सामान्य अधिकारिता प्राप्त है या ऐसी स्थानीय सीमाओं के बाहर के ऐसे व्यक्ति को निर्दिष्ट हो जो वैयक्तिक रूप से सुप्रीम कोर्ट की सिविल और दांडिक अधिकारिता के अधीन हो ; यह कि सुप्रीम कोर्ट को कोई शक्ति या प्राधिकार नहीं है कि जेलर को या किसी देशीय न्यायालय के किसी अधिकारी को उसकी उस हैसियत में बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट जारी करे क्योंकि सुप्रीम कोर्ट को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि ऐसे व्यक्ति को उन्मोचित करे जो देशीय न्यायालय की अधिकारिता के अधीन कारावासित है ।"

29. **अमीर खां**[1] के मामले में कोई भी मुफस्सिल न्यायालय उससे संबद्ध नहीं था । सरकार ने 1818 के एक पुराने विनियम के अधीन उस नगर के भारतीय निवासी को गिरफ्तार कर लिया था और उसे उन्होंने नगर की सीमाओं के बाहर एक जेल में बंद कर रखा था । जैसा कि बहुधा होता है, जेलर एक चिकित्सक था - डाक्टर फाक्स, जो दृश्यतः एक यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा था । न्यायमूर्ति नार्मन और अपील न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण के लिए आवेदन गुणागुण के आधार पर खारिज करने को सहमत हो गए । न्यायमूर्ति नार्मन ने यह मत व्यक्त किया कि (1829) 1 नैप 1 वाले निर्णय से संगत रिट जारी की जा सकती थी । अपील कोर्ट ने अधिकारिता के विषय में कुछ नहीं कहा । अधिकारिता के

---

[1] (1870) 6 बंगाल ला रिपोर्ट्स 392.

विषय में न्यायमूर्ति नार्मन की राय के कारण पुरानी अंग्रेजी रिट प्रेसिडेंसी नगर तक सीमित हो गई (सन् 1872 का अधिनियम सं. 10, धारा 82) और जो 1875 के अधिनियम सं. 10 की धारा 148 द्वारा अधिक्रांत कर दी गई । उनके समक्ष की गई आपत्ति यह थी और यही हो सकती थी कि रिट मुफस्सिल में यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा को भी जारी नहीं हो सकती थी । उन्होंने इस तर्क के प्रति आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि यह तर्क तो किसी भी आदेशिका को लागू होगा । किंतु प्रश्न यह नहीं है कि परमाधिकार रिट क्या कभी मुफस्सिल के लिए जारी हो सकती है बल्कि यह है कि वह किसके लिए और किन मामलों में उस दशा में जारी हो सकती है जब कि वह प्रेसिडेंसी नगर पर स्थानीय अधिकारिता के प्रयोग में न हो ।

30. उपर्युक्त 36 मद्रास 72 में न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर का विचार यह प्रतीत होता है कि न्यायमूर्ति नार्मन की राय थी कि परमाधिकार रिटें मुफस्सिल के लिए जारी की जा सकती हैं परंतु वे तब जब वे ऐसी नहीं हो जो न्यायालयों को प्रभावित करें । यदि उनका यह मत था तो उन्होंने निर्णय को गलत रूप में समझा है । (1829) 1 नैप 1 में एक संकल्प में विनिर्दिष्ट तौर पर कहा गया था कि रिट केवल ऐसे व्यक्ति को जारी हो सकती है जो वैयक्तिक रूप से उस अधिकारिता के अधीन हो और 6 बंगाल या रिपोर्ट्स 392 में यह तथ्य कि जेलर दृश्यतः ब्रिटिश प्रजा था न्यायमूर्ति नार्मन के निर्णय का मूल तत्व था । हम उपर्युक्त 36 मद्रास 72 में न्यायमूर्ति सुंदर अय्यर द्वारा पृष्ठ 80 पर व्यक्त किए गए इस विचार से सहमत हैं :–

> "सुप्रीम कोर्ट को ईस्ट इंडिया कंपनी के मुफस्सिल के न्यायालयों पर या न्यायिक रूप से कार्य करने वाले उनके अधिकारियों पर कोई सामान्य शक्ति या नियंत्रण प्राप्त नहीं है । हमें विश्वास है कि यह प्रतिपादना उन मामलों में भी सही होगी जहां कि अधिकारिता का प्रयोग करने वाला अधिकारी ब्रिटिश प्रजा हो ।"

31. उपर्युक्त 38 मद्रास 72 के विषय में यह बता देना बहुत महत्वपूर्ण है कि न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर का यह मत नहीं था कि

सुप्रीम कोर्ट को कंपनी के न्यायालयों के लिए उत्प्रेषण (रिट) जारी करने की अधिकारिता थी । विद्वान् न्यायाधीश का विचार था कि विशेष कानूनों और चार्टरों द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को शक्ति प्राप्त थी कि न्यायालय स्थापित करे और यह कि या तो इसी कारण से या इस कारण से कि मुफस्सिल न्यायालय व्यवहार में विदेशी न्यायालय थे, चार्टर के खंड 8 के निबंधनों के अनुसार प्रदत्त परमाधिकार रिट जारी करने की सामान्य अधिकारिता मुफस्सिल न्यायालयों पर प्रभावी नहीं हो सकती थी । हमें इस प्रश्न पर स्थिति पूर्णतः स्पष्ट नहीं है ; किंतु हमारा विचार है कि विद्वान् न्यायाधीश के विचार में अधिकारिता का प्रयोग उन विनिश्चयों को अभिखंडित करने के लिए प्रभावी हो सकता था जो मुफस्सिल के ऐसे व्यक्तियों द्वारा दिए गए हों जो न्यायालय नहीं थे । इस अपील में अपीलार्थियों की ओर से यह मत प्रस्तुत नहीं किया गया और चार्टर के खंड 8 के उचित अर्थान्वयन के लिए हमने मुफस्सिल न्यायालयों की सुप्रीम कोर्ट को खंड 8 के उचित अर्थान्वयन के लिए हमने मुफस्सिल न्यायालयों की सुप्रीम कोर्ट को खंड 8 द्वारा दी गई शक्ति के संदर्भ में स्थिति के विषय में पूर्ण चर्चा की है । किंतु हमारी दृष्टि में यह प्रतिपादित करना असंभव है कि खंड 8 के अधीन सुप्रीम कोर्ट ने यह अधिकार प्राप्त किया कि प्रेसिडेंसी नगर की सीमा के बाहर के ऐसे व्यक्ति के लिए परमाधिकार रिट जारी करें जो व्यक्तिगत रूप से उनकी सिविल और दांडिक अधिकारिता के अधीन नहीं था । वे न्यायालय उससे अधिक विदेशी न्यायालय नहीं थे जितना कि मुगल सम्राट की भारतीय प्रजा विदेशी प्रजा थी । यदि सम्राट अथवा उसके द्वारा प्रदत दीवानी अधिकार का प्रयोग करके कंपनी किसी व्यक्ति को या राजस्व बोर्ड जैसे कार्यपालक प्राधिकारी को नियुक्त करे कि गंजम के भारतीयों के बीच व्यक्तिगत अधिकार के विशिष्ट मामलों में निर्णय करें तो उससे चार्टर के खंड 8 के आधार पर सुप्रीम कोर्ट को उस निर्णय में उत्प्रेषण रिट द्वारा हस्तक्षेप करने का उससे अधिक अधिकार नहीं होगा जितना कि कंपनी के किसी न्यायालय के निर्णय के मामले में होता । इस प्रयोजनार्थ हमारी राय में कंपनी के दंड, सिविल, राजस्व या अन्य न्यायालय तथा न्यायिक प्रकृति के मामले में विनिश्चय करने को

प्राधिकृत कंपनी के अन्य अधिकारी में अंतर नहीं किया जा सकता ।

32. अंतिम मामला जिसका यहां उल्लेख किया जाएगा, कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा **लीगत रैमेम्बरेंसर** बनाम **मतिलाल घोष**[1] के निर्णय के कुछ ही बाद किया गया । उसमें प्रश्न यह था कि क्या उच्च न्यायालय को अधिकारिता है कि एक समाचार पत्र के प्रकाशक को बरीसारल के मजिस्ट्रेट के न्यायालय के अवमान के लिए दंडित करे । उससे ऐसा करने का अनुरोध **आर.** बनाम **डेवीस**[2] के सिद्धांत के आधार पर किया गया । उसमें निर्णय किया गया कि किंग्स बेंच न्यायालय निचले न्यायालय के अवमान के लिए दंड दे सकता है क्योंकि वह देश की सभी प्रजा का चरम संरक्षक (costos morum) है, जैसा कि हाकिंस के "प्लीज आफ दि क्राउन" (बुक 2, अध्याय 3) में कहा गया है । कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अधिकारिता नहीं मानी और निर्णय किया कि जिस प्रकार किंग्स बेंच पूरे इंग्लैंड के लिए वरिष्ठ राज्य परिषद् या चरम संरक्षक (aula regis or custos morum) की हैसियत रखता है वैसी हैसियत सुप्रीम कोर्ट को संपूर्ण बंगाल में प्राप्त नहीं थी । बंगाल के 1774 के एक चार्टर के खंड 4 और 21 का (जो मद्रास के 1800 के चार्टर के खंड 8 और 47 के तत्समान थे) उल्लेख करके मुख्य न्यायमूर्ति जैंकिन्स ने कहा :–

> "इस मामले के प्रयोजनार्थ यह काफी सही कथन है कि इस और बाद के विधायन के परिणामस्वरूप सुप्रीम कोर्ट की दांडिक अधिकारिता (समुद्री अपराधों से अलग) स्थानीय सीमा तक सीमित थी, सिवाय ब्रिटिश प्रजा के संबंध में और न्यायालय का मुफस्सिल के दंड न्यायालयों पर कोई सामान्य नियंत्रण या शक्ति नहीं थी । इसी प्रकार से कामन ला लागू होना केवल प्रेसिडेंसी नगरों तक तथा उनकी स्थानीय सीमाओं के बाहर केवल ब्रिटिश प्रजा तक सीमित था ।"

33. अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ऐसे मामले में उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता, इस आधार पर कि राजस्व

---

[1] इं. ला रि. (1913) 41 कलकत्ता 173 है जिसका निर्णय 1913 में तथा 36 मद्रास 72.

[2] (1906) 1 किंग्स बेंच 32.

बोर्ड प्रेसिडेंसी नगर में स्थित है, उच्च न्यायालय को प्राप्त हुई या सुप्रीम कोर्ट को प्राप्त हुई होती । 1726 से मद्रास नगर अंग्रेजी विधि के सिद्धांतों से शासित माना जाता रहा था यद्यपि उस विधि के सभी उपबंध इस देश की परिस्थितियों को लागू नहीं माने गए हैं, और 1726 से पारित ब्रिटिश कानून भारत में विशेषतः विस्तारित किए बिना यहां प्रभावी नहीं किए गए हैं । जैसा कि पहले देखा गया, राजस्व बोर्ड की स्थापना 1786 में हुई थी और विभिन्न समयों पर उसने भिन्न-भिन्न कृत्यों का संपादन दिया है, जिनमें से कुछ न्यायिक प्रकृति के हैं, देखिए - मद्रास रेगुलेशन 1803 का 1 और रेगुलेशन 1806 का 2 । 1804 के रेगुलेशन 5 से वह प्रेसिडेंसी के लिए प्रतिपाल्य अधिकरण हो गया । 1817 के रेगुलेशन 7 के अधीन उसको अनेक वर्षो पर्यन्त धार्मिक और अन्य विन्यासों (एंडाउमेंट्स) पर नियंत्रण प्राप्त था । हम यह मानकर नहीं चलते हैं कि उसे 1800 में न्यायालय माना जाता । प्रवृत्त मामले के प्रयोजनार्थ यहां यह भी बताया जा सकता है कि मद्रास संपदा भूमि अधिनियम, 1908 (मद्रास एस्टेट्स लेंड ऐक्ट) की धारा 172 के अधीन निदेश देने में राजस्व बोर्ड को न्यायालय, अथवा राजस्व न्यायालयों के सोपानक्रम में उच्चतम न्यायालय न मानकर शासकीय निकाय माना जाना है जिसे विशिष्ट कर्तव्य सौंपे गए हैं जिनमें कुछ कर्तव्य न्यायिक प्रकृति के हैं । उपर्युक्त 63 मद्रास ला जर्नल 450 और 56 मद्रास 579 से यह प्रकट होता है कि यह मत उच्च न्यायालय की राय के अनुसार है । राजस्व बोर्ड के कार्यालय सदैव प्रेसिडेंसी नगर में रहे हैं और प्रस्तुत मामले में परिवादित आदेश करने वाले संग्रही बोर्ड ने यह आदेश नगर में ही जारी किया । दूसरी ओर पक्षकार उच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के अध्यधीन नहीं हैं तथा परलकीमेडी संपदा प्रांत के उत्तर में है । प्रस्तुत प्रश्न पर हम चार्टर के खंड 47 से निकाली जा सकने वाली किसी नकारात्मक विवक्षा पर जोर नहीं देते । उक्त खंड ने सुप्रीम कोर्ट को प्राधिकृत किया कि परमादेश, उत्प्रेषण आदि की रिटें नगर के जस्टिसों तथा अन्य मजिस्ट्रेटों को तथा उसमें वर्णित दो न्यायालयों को, अर्थात् कोर्ट आफ रिक्वेस्ट तथा कोर्ट आफ क्वार्टर सेशंस को जारी करे । इस खंड की भाषा यह विचार कठिन बना देती है कि उसमें वर्णित से भिन्न न्यायालयों के विषय में यह आशयित था कि वे इस प्रयोजनार्थ

निचले न्यायालय समझे जाएं । **ऐनीबीसेंट** बनाम **मद्रास के महाधिवक्ता**[1] में इस बोर्ड का निर्णय है कि उत्प्रेषण जारी करने की शक्ति कलकत्ता, मद्रास और बंबई उच्च न्यायालयों को उनकी स्थानीय अधिकारिता के प्रयोग में अब भी है । इस प्रश्न पर उसने **नंद लाल बोस** बनाम **कलकत्ता निगम**[2] वाले निर्णय की पुष्टि की कलकत्ता नगर के कमिश्नर द्वारा एक निवास-गृह का कर निर्धारण न्यायालय के समक्ष लाने के लिए एक उत्प्रेषण रिट जारी की गई और वह निर्धारण अभिखंडित किया गया । निर्णय यह किया गया कि निर्धारण में त्रुटि अधिकारिता-विषयक थी । प्रश्न यह है कि क्या उस निर्णय का सिद्धांत प्रस्तुत मामले में गंजम की भूमि के लगान के व्यवस्थापन के संबंध में केवल इस आधार पर लागू किया जा सकता है कि राजस्व बोर्ड निकाय के रूप में, जो मामूली तौर पर मद्रास नगर के भीतर है या स्थित होता है या यह कि इस आधार पर लागू किया जा सकता है कि परिवादित आदेश नगर के भीतर किया गया था । यदि ऐसा है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि राजस्व बोर्ड को नगर की सीमा के बाहर ले जाने पर वह उच्च न्यायालय की अधिकारिता से बच जाएगा और वह अधिकारिता उच्च न्यायालय को कभी नहीं होती, सिवाय इस परिस्थिति के कि राजस्व बोर्ड में अपील या पुनरीक्षण किया जाए । हमारे विचार से अधिकारिता का प्रश्न सारभूत समझा जाना चाहिए और यह सुप्रीम कोर्ट की क्षमता में नहीं होना चाहिए कि वह प्रस्तुत जैसे मामले में राजस्व बोर्ड को इस आधार पर उत्प्रेषण रिट जारी करे कि वह नगर में स्थित है, अधिकारिता का दावा करे । ऐसा दृष्टिकोण सुप्रीम कोर्ट को ऐसे पक्षकारों के बीच जो अन्यथा उसकी अधिकारिता के अंतर्गत नहीं है गंजम की रैयती धृतियों के लगान के व्यवस्थापन के मामले में वह अधिकारिता प्रदान करेगा जो उसे उस राजस्व अधिकारी के संबंध में प्राप्त नहीं थी जिसने कि उस मामले में प्रथमतः कार्यवाही की थी ।

34. अब इस पर विचार करना है कि यदि 1800 के चार्टर ने सुप्रीम कोर्ट को प्रस्तुत जैसे मामले में शक्ति प्रदान नहीं की कि वह

---

[1] 46 इंडियन अपील्स 176 = आ. इं. रि. 1936 प्रि. कौं. 31.

[2] (1885) 11 कलकत्ता 275.

उत्प्रेषण रिट जारी करे तो क्या उस न्यायालय को वह शक्ति 1858 के अधिनियम 21 और 22 विक्टोरिया, कैप 106 द्वारा प्राप्त हुई जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर दिया तथा प्रांत के भारतीय निवासियों की निष्ठा सीथो क्राउन के प्रति कर दी । यह सुझाव उक्त 36 मद्रास 72 में सदाशिव अय्यर के निर्णय में मिलता है और अपीलार्थियों की ओर से अपने सर्वतोपूर्ण एवं योग्यतापूर्ण बहस में श्री खम्बट्टा ने यही बहस की । 1858 के बहुत पहले यह स्पष्ट हो गया था कि मुगल साम्राज्य का अस्तित्व तथा दीवानी के रूप में कंपनी की स्थिति में अवास्तविकता का तत्व था । 1813 के जिस चार्टर ऐक्ट ने कंपनी के अर्जन और अधिकार और आगे की अवधि के लिए जारी रखे उसकी उद्देशिका में अभिव्यक्त तौर पर कहा गया है कि "यह यूनाइटेड किंग्डम आफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड के क्राउन की उस पर असंदिग्ध प्रभुता (sovereignty) पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना है ।"

35. कंपनी के कब्जे में के राज्यक्षेत्रों पर उसका शासन 1853 के अधिनियम (16-17 विक्टोरिया, अध्याय 95) द्वारा कायम रखा गया । किंतु वह हिज मैजेस्टी के लिए न्यास के रूप में था और यह स्थिति तब तक रहनी थी जब तक पार्लियामेंट अन्यथा व्यवस्था न करे । विधि की दृष्टि से हमें यह निर्णय करना असंभव लगता है कि सुप्रीम कोर्ट को 1858 के बाद के अपने अस्तित्व काल के तीन अतिरिक्त वर्षों के लिए मुफस्सिल में के न्यायालयों तथा व्यक्तियों पर उनसे और अधिक व्यापक अधिकारिता निहित कर दी गई थी जो कि उसे पहले थी । 1858 के अधिनियम में हमें कुछ नहीं मिलता जो 1800 के चार्टर की सामान्य योजना को अधिक्रंत करे या संपूर्ण ब्रिटिश भारत में पहले से प्रचलित अलग-अलग अधिकारियों के प्रति जोड़ या सम्मिलन उत्पन्न करे । हमारी यह राय नहीं है कि इससे सभी भारतीय 1800 के चार्टर के उन खंडों के अर्थ के अंतर्गत आ गए जिनमें कि कुछ व्यक्तियों को भारतीयों से भिन्न करते हुए ब्रिटिश प्रजा बताया गया था, अथवा कि उसने सुप्रीम कोर्ट की अधिकारिता बढ़ा दी । निश्चय ही 1858 के अधिनियम द्वारा बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया । उसने कंपनी के न्यायालयों और किंग के न्यायालयों के बीच का पुराना अंतर समाप्त कर

दिया और सुधार के तौर पर यह अत्यंत वांछनीय कर दिया कि न्यायिक प्रशासन के विषय में अधिंक एकता होनी चाहिए । किंतु यह सुधार 1858 के अधिनियम में ही कोई व्यवस्था होने के कारण लागू नहीं हुए बल्कि 1861 के इंडियन हाई कोर्ट्स ऐक्ट द्वारा दिए गए । इस अधिनियम से तथा उसे प्रभावी रखने वाले कानूनों से उच्च न्यायालय को सुप्रीम कोर्ट की शक्तियां मिल गईं । किंतु यदि यह पाया जाए और हमारे विचार से यह पाया गया है, कि प्रश्नगत शक्ति सुप्रीम कोर्ट को 1800 के चार्टर के अधीन प्राप्त नहीं थी तो 1861 के अधिनियम में कोई अन्य बात नहीं है जो यह शक्ति प्रदान करे ।

36. एक अंतिम सुझाव इंडिया आफिस द्वारा अनुदिष्ट विद्वान् अभिवक्ता सर मांकटन ने दिया । उन्होंने 1861 के भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम की धारा 15 द्वारा और बाद में भारतीय शासन अधिनियम की धारा 107 द्वारा प्रदान की गई अधीक्षण की शक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया । उनका कहना है कि इसमें नियंत्रण का वैसा ही अधिकार आ जाएगा जिसका इंग्लैंड में प्रयोग उत्प्रेषण की रिट द्वारा होता है । यद्यपि यह अधिकार केवल उन न्यायालयों के संबंध में दिया गया है जो उच्च न्यायालय की अपीली अधिकारिता के अधीन हैं, उनका सुझाव है कि उच्च न्यायालय को मुफस्सिल में न्यायिक कृत्यों का संपादन करने वाले व्यक्तियों या शासकीय निकायों पर वैसे ही अधिकार मिल जाए । हम यह तर्क मानने को तैयार नहीं है । धारा 15 द्वारा दी गई शक्तियां सदर दीवानी अदालत के उत्तराधिकार के रूप में दी गई हैं जो कि अपीली अधिकारिता के निर्देश से बहुत स्पष्ट है । यदि यह नहीं दिखाया जा सकता कि सुप्रीम कोर्ट को प्रस्तुत जैसे मामले में राजस्व बोर्ड को उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता थी तो हम ऐसी कोई शक्ति भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम में नहीं पाते, जिसकी धारा 9 बिल्कुल स्पष्ट है । यह नहीं कहा गया है और न कहा जा सकता है कि सदर दीवानी अदालत किसी समय न्यायिक कृत्यों का संपादन करने वाले व्यक्तियों और शासकीय निकायों के लिए उत्प्रेषण रिटें जारी कर दी थी । जब तक कि किसी विशेष अधिनियमिति द्वारा वह अधिकार लिया न जाए तब तक अधिकारिता के बाहर जाकर दिए आदेश से व्यथित किसी

भी व्यक्ति को प्रथमदृष्ट्या अधिकार है कि उसे साधारण सिविल न्यायालय में वाद द्वारा प्रश्नगत करे । यह अवश्य है कि विनिर्दिष्ट अनुतोष के संबंध में यह अधिकार विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम (अधिनियम नियम सं. 1 सन् 1877) के उपबंधों के अधीन रहते हुए होगा । किंतु यदि यह अधिकार विधान-मंडल ने किसी ऐसे मामले में छीन लिया हो जिसमें कि राजस्व बोर्ड या किसी अन्य निकाय ने न्यायिक कृत्यों का संपादन किया हो, तो यही हो सकता है कि अधिकारिता के प्रश्न पर न्यायिक निर्णय को प्रश्नगत करने का एकमात्र तरीका सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील प्रस्तुत करना है । माना गया यह है कि प्रस्तुत मामले में बोर्ड के आदेश के विरुद्ध सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील इजाजत लेकर की जा सकती थी । अतः ऐसा कोई तर्क या आवश्यकता नहीं है कि इस आशय का सिद्धांत उचित लगे कि अधीक्षण के अधिकार में उत्प्रेषण रिट जारी करने का अधिकार शामिल है ।

37. परिणामतः हमारा निष्कर्ष है कि यह मान लेने पर भी कि राजस्व बोर्ड ने अपीलार्थियों का लगान 37.50 प्रतिशत बढ़ाने में अपनी अधिकारिता के बाहर कार्य किया, उच्च न्यायालय को उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता नहीं थी ।

38. गुणागुण के आधार पर भी हमारे विचार से यह अपील असफल होती है क्योंकि यह नहीं दिखाया गया है कि राजस्व बोर्ड ने अपीलार्थियों के लगान में 37.50 प्रतिशत की वृद्धि करने में उस शक्ति के बाहर जाकर कार्य किया जो मद्रास संपदा भूमि अधिनियम, 1908 की धारा 172 द्वारा उसे दी गई है । यह तर्क कि अधिनियम पहले देय लगान में 12-1/2 प्रतिशत या 2 आने प्रति रुपए से अधिक की वृद्धि अनुमत नहीं करता, प्रथमतः ऊपर उद्धृत धारा 30 के खंड (i) के परंतुक (ख) पर निर्भर करता है । धारा 30 भू-धारक द्वारा लगान में वृद्धि के लिए कलेक्टर को दिए गए आवेदन के विषय में है जो वृद्धि उसमें वर्णित 4 आधारों में से किसी एक या अधिक पर की जा सकती है । इन आधारों में पहला यह है कि वर्तमान लगान चालू रहने के दौरान खाद्यान्न की फसलों की औसत स्थानीय कीमतों में वृद्धि हुई है । प्रस्तुत मामले में वृद्धि का प्रश्न ऐसे किसी आवेदन से उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि अधिनियम

के अध्याय 11 के अधीन कार्यवाही से उत्पन्न हुआ, क्योंकि सरकार ने 18.11.1927 को निदेश दिया था कि धारा 164 के अधीन अधिकार अभिलेख तैयार किए जाएं और धारा 168 के अधीन उचित और साम्यापूर्ण लगान निश्चित किया जाए । अपीलार्थियों का यह तर्क कि अधिनियम की धारा 30 का ऊपर उद्धृत परंतुक प्रस्तुत मामले को लागू होता है धारा 168 की उपधारा (2) के आधार पर है :–

> "(2) इस धारा के अधीन लगान निश्चित करने में कलेक्टर, जब तक तत्प्रतिकूल साबित न किया जाए, उपधारणा करेगा कि वर्तमान लगान अथवा लगान की दर उचित और साम्यापूर्ण है और रैयत द्वारा देय लगान की दरों के अवधारण में इस अधिनियम के उपबंधों का ध्यान रखेगा ।"

39. 19.10.1936 का आदेश करने में संग्रही राजस्व बोर्ड के बहुमत ने जो दृष्टिकोण अपनाया, जिसकी शिकायत की गई है, वह यह है कि प्रश्नगत उपबंध में "का ध्यान रखेगा" वाली अपेक्षा का सामान्य प्रयोग के अर्थ से भिन्न कोई निश्चित या तकनीकी अर्थ नहीं है वह केवल यह अपेक्षा करता है कि यह उपबंध विचार में लिए जाने चाहिए । हमारे विचार से अध्याय 11 के अधीन राजस्व अधिकारी का प्रथम कर्तव्य उचित और साम्यापूर्ण लगान नियत करने का है यद्यपि उसका मार्गदर्शन उन सिद्धांतों से होना चाहिए जो अध्याय 3 के उपबंधों में निहित हैं, किंतु वह उन उपबंधों से पूर्णतः आबद्ध नहीं है । उस दीर्घ अंतराल को, जो लगान के 1867-68 में हुए अनंतिम व्यवस्थापन के बाद बीता है, तत्पश्चात् कीमतों में हुई भारी वृद्धि को, और देश के इस भाग में सामान्य आर्थिक सुधार को देखते हुए संग्रही बोर्ड का विचार था कि 37.50 प्रतिशत की वृद्धि अन्यायपूर्ण नहीं होगी और उन्होंने राजस्व अधिकारी को निदेश दिया कि 100 प्रतिशत की वृद्धि को घटाकर उतनी कर दें । रैयत द्वारा देय लगान के अवधारण में अधिनियम के उबपंधों "का ध्यान रखेगा" वाले निर्देश के प्रभाव का यह भाव उपर्युक्त 49 मद्रास 499(506) में उच्च न्यायालय के निर्णय से समर्थित है । उसकी पुष्टि उपर्युक्त 63 मद्रास ला जर्नल 450(486) में न्यायमूर्ति रैली द्वारा की गई उक्ति द्वारा की गई, जिसमें कि विद्वान् न्यायाधीश ने कहा :–

"जहां कि व्यवस्थापक अधिकारी को केवल ऐसे प्रश्नों पर विचार करना है जो धारा 168(2) के अधीन धन के रूप में देय लगान के परिवर्तन, वृद्धि या घटाने के लिए वाद में उत्पन्न होंगे वहां उसका मार्गदर्शन उन उपर्युक्त सिद्धांतों से होना चाहिए जो अधिनियम में दिए गए हैं, किंतु इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि उसके व्यवस्थापन में प्रश्न का अधिक व्यापक क्षेत्र आ सकता है और जहां कि उसे केवल विधिपूर्ण लगान का समायोजन मात्र नहीं करना है बल्कि विधिपूर्ण लगान से, जो वाद द्वारा वसूल किया जा सकता है, भिन्न उचित और साम्यापूर्ण लगान नियत करना है वहां उसका व्यवस्थापन स्पष्टतः ऐसा हो जाता है जो कोई सिविल न्यायालय विशेषतः सशक्त दिए गए बिना नहीं कर सकता ।"

40. इस प्रश्न पर हम संग्रही बोर्ड के बहुतम के दृष्टिकोण से सहमत हैं । प्रस्तुत मामले में यह संभव नहीं है कि विशेष राजस्व अधिकारी की कार्यवाही का अनुशीलन यह देखे बिना किया जाए कि इसमें राजस्व अधिकारी ने खाद्यान्नों की फसलों की मूल्य-वृद्धि के अतिरिक्त अनेक बातों पर विचार किया जिन पर अध्याय 11 के अधीन अपने कर्तव्य के पालन के लिए उन्हें विचार करना था । उन्होंने 10.12.1935 की अंतिम कार्यवाही के पैरा 30 में कहा :–

"हमारा निष्कर्ष है कि वर्तमान व्यवस्थापन भी एक नया और प्रारंभिक व्यवस्थापन है जिसमें कि प्रत्येक बात को नए सिरे से वर्गीकरण करना है और लगान की नई दरें नियत करना है । अतः यह केवल लगान की वृद्धि का मामला नहीं है बल्कि लगान की नई दरें नियत और प्रारंभ करने का है जो साम्या और औचित्य के सिद्धांतों पर आधारित हो जो संपदा भूमि अधिनियम के अध्याय 11 में दिए गए हैं ।"

41. वर्तमान जैसी कार्यवाही और अधिनियम के अध्याय 3 के अधीन उठाए गए कदमों में मुख्य अंतर यह है कि अध्याय 3 के अंतगत वर्तमान लगान एक कानूनी आधार रखती है । यह अनिवार्य रूप से उस अधिकार की प्रकृति के अंतर्ग्रस्त है जो भू-स्वामी को धारा 30 के खंड (1) के उपबंधों द्वारा अनुदत्त है । किंतु अध्याय 11 के अधीन वर्तमान

लगान को केवल उपधारणा का फायदा होता है और उसके औचित्य की परीक्षा करनी होती है । इसके लिए अनेक बातों का विचार करना होता है तथा अधिनिमय के अधीन नियम बनाए गए हैं जो अपेक्षा करते हैं कि अनेक बातों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए, जैसे कि भूमि की दशा, मिट्टी की प्रकृति, संलग्न गांवों में प्रचलित लगान की दरें, आदि । इनका कुछ निर्देश उपर्युक्त 63 म. ला. ज. 480 के पृष्ठ 502-503 में न्यायमूर्ति अंतकृष्ण अय्यर के निर्णय में पाया जाएगा । इन परिस्थितियों में हमारा विचार है कि यह कहना असंभव है कि धारा 30 के खंड (1) के परंतुक (ख) में दिए गए प्रतिषेध का अन्य बातों के साथ ध्यान रखने का कर्तव्य एक ऐसा कर्तव्य है जो उन सीमाओं का कड़ाई से पालन करने का है जो उन मामलों के लिए लगाई गई हैं जिनको कि धारा स्वतः लागू होती है । यद्यपि इस मत में बल है कि नकारात्मक उपबंध का जब कि पालन नहीं किया जाता तब तक यह नहीं माना जा सकता कि उसका ध्यान रखा गया । किंतु हम यह संभव नहीं पाते कि धारा 168 की उपधारा (2) के शब्दों का इस प्रकार अर्थ करें कि सकारात्मक उपबंधों का एक ढंग से अर्थ किया जाए और नकारात्मक उपबंधों का दूसरे ढंग से । पद "ध्यान रखा जाएगा" या इससे मिलती-जुलती अभिव्यक्तियां इस पूरे अधिनियम में यत्रतत्र मिलती हैं किंतु प्रयुक्त पद का ठीक बल उसके संदर्भ तथा उसकी अपनी विषयवस्तु से समझा जाना चाहिए । ऐसे पद का कोई भी सामान्य निर्वचन खतरनाक और अनावश्यक है । अंग्रेजी भाषा की दृष्टि से यह बहुत स्पष्ट है कि संग्रही बोर्ड के बहुमत द्वारा अपनाया गया मत कानून में प्रयुक्त "का ध्यान रखेगा" पद के सामान्य अर्थ से उसकी अपेक्षा निकटतर है जो विसम्मत सदस्य ने अपनाया । इसका दृष्टांत इस अंग्रेजी निर्णयों से दिया जा सकता है **रानी** बनाम **सेंट पैंक्राज की वेस्ट्री**[1] तथा **मेकडरमोट** बनाम **एम. एस. टिंटोरेटो के स्वामी**[2] । किंतु हम विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के 5.11.1937 के निर्णय की एक उक्ति से पूर्णतः सहमत नहीं है जो उन्होंने अब अपीलकृत आदेश करते समय की । उन्होंने कहा :–

[1] (1890) 24 क्वींस बेंच डिवीजन 371.

[2] (1902) 2 किंग्स बेंच 704.

"धारा 168 की उपधारा (2) में रैयत द्वारा देय लगान की दरों के अवधारणार्थ इस अधिनियम के उपबंधों 'का ध्यान रखेगा' शब्द अधिनियम के केवल उन उपबंधों को लागू होंगे जो सामान्य तौर पर लागू होते हैं ।"

42. इसमें यह अंतर्ग्रस्त प्रतीत होगा कि संग्रही बोर्ड को धारा 30 के खंड (1) के परंतुक (ख) में निर्दिष्ट 12.50 प्रतिशत की सीमा पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं थी । हम इतनी दूर तक जाने को तैयार नहीं हैं । हमारे मत से यह तर्क निराधार है कि राजस्व बोर्ड ने अपनी अधिकारिता के बाहर जाकर कार्य किया है । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थियों द्वारा प्रत्यर्थी जमींदार का खर्चा दिया गया ।

अपील खारिज की गई ।

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – **उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका** का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के चयनित क्रमशः सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत क्रमशः ₹ 2,100/-, ₹ 1,300/- और ₹ 1,300/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें । साथ ही यह भी अवगत कराया जाता है कि केन्द्रीय अधिनियमों, विधि शब्दावली, विधि पत्रिकाओं और अन्य विधि प्रकाशनों को आन लाइन **https://bharatkosh.gov.in/product/ product** पर प्राप्त किया जा सकता है ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105

विक्रेता : सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और विक्रयार्थ उपलब्ध पाठ्य पुस्तकों की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम एवं प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पृष्ठ सं.	पुस्तक की मूल मुद्रित कीमत (रुपयों में)	विशेष छूट के पश्चात् पुस्तक की कीमत (रुपयों में)
1.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय – डा. एस. सी. खरे – 1996	273	115	29.00
2.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) – विधि साहित्य प्रकाशन – 2000	209	225	57.00
3.	विधि शास्त्र – डा. शिवदत्त शर्मा – 2004	501	580	290.00
4.	मानव अधिकार – डा. शिवदत्त शर्मा – 2006	340	120	60.00
5.	निर्णय लेखन – न्या. भगवती प्रसाद बेरी – 2019	190	175	–

अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. विधि शब्दावली	सातवां संस्करण, 2015	कीमत रु. 375/-
2. निर्वाचन विधि निर्देशिका (भाग-1 तथा भाग-2)	नवीनतम संस्करण, 2019	कीमत रु. 1,900/-
3. भारत का संविधान (सिंधी भाषा में)	1998	कीमत रु. 45/-
4. बहुभाषी संविधान शब्दावली	1986	कीमत रु. 12/-

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

Website : www.lawmin.nic.in
Email : am.vsp-molj@gov.in